भारतीय विचारधारा में दिक् और काल की अवधारणा

प्रो० के० के० मण्डल

पुस्तक-परिचय

भारतीय चिन्तन के उषःकाल में निखिल ब्रह्माण्ड के कारणभूत तत्त्वों की गवेषणा की प्रक्रिया में दिक् और काल की अवधारणाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दिक् और काल की अवधारणा विश्व सृष्टि के पूर्व भी रही होगी और सदा किसी-न-किसी रूप में बनी रहेगी। दिक् और काल विज्ञान एवं दर्शन के मूलभूत तत्त्व हैं। इन तत्त्वों पर वैदिक युग से लेकर आज तक अनेकों ऋषियों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने विविध पक्षों पर अपना चिन्तन किया है।

प्रस्तुत कृति में विद्वान् लेखक ने वैदिक काल से लेकर प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों का पर्यावलोकन किया है जो इस दिशा में एक अच्छा प्रयास है। नौ अध्यायों में वर्गीकृत इस पुस्तक में दिक् और काल की अवधारणा का विवेचन चारों वेदों (ऋक्-यजुष-साम-अथर्व), वेदाङ्गों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों (रामायण-महाभारत) और भारतीय दर्शनों (बौद्ध, जैन, न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा, वेदान्त) में प्रतिपादित विचारों की समीक्षा के सहित किया है। साथ ही लेखक ने पाश्चात्य वैज्ञानिकों (न्यूटन, आइन्सटीन, सर जेम्स जीन्स, सर ए. एस. एडिंगटन और एलेक्जेण्डर आदि द्वारा गवेषित अवधारणा की भी समीक्षा पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। निश्चित रूप से यह पुस्तक दिक् और काल पर निरत शोधार्थियों, दर्शन एवं अन्य सम्बन्धित पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

भारतीय विचारधारा में दिक् और काल की अवधारणा

(वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक)

(Concept of time & space in Indian Thought)

प्रो॰ के॰ के॰ मंडल

पूर्व कुलपति

बिहार विश्वविद्यालय तथा मगध विश्वविद्यालय

पेनमैन पब्लिशर्स

दिल्ली

प्रथम संस्करण : २००२

ISBN: ८१-८५५०४-३४-२

आवरण : धीरज

प्रकाशक :
जवाहरलाल गुप्त
पीजीडीबीपी (सम्पा०)
पेनमैन पब्लिशर्स
७३०९/५, प्रेम नगर, शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७, दूरभाष : ३९८०३१९

अक्षर समायोजक :
क्रियेटिव ग्राफिक्स
ए-४०/६, गली नं० २, ब्रह्मपुरी,
दिल्ली-११००५३ दूरभाष : २१९५६४३

मुद्रक: तरुण आफ्सेट प्रेस, मौजपुर, दिल्ली

Bhāratīya Vicāradhārā mein Dik our Kāla kī Avadhāraṇā
By Mandal, K. K. (Prof.) Rs. 250/-

पुरोवाक्

प्रस्तुत कृति मेरे वर्षों तक चलने वाले कठिन श्रम एवं गहन अध्ययन का प्रतिफल है। अध्ययन का विषय दर्शन की चिरन्तन समस्या से संबंधित है। प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक दर्शन की यह समस्या रही है। मेरा निष्कर्ष भी इस चिरन्तन सत्य का प्रतिपादन करता है। मेरा मानना है कि दार्शनिक समस्याओं में किसी विषय पर पूर्ण सहमति का प्रश्न ही नहीं उठता। दो पंडित किसी प्रश्न पर सहमत नहीं होते, यह उक्ति है। शंकराचार्य अपने शांकरभाष्य में एक स्थान पर कहते हैं कि व्यक्तियों की रुचियां भिन्न-भिन्न हैं अत: भिन्न विषयों पर उनके विचार भिन्न होंगे। लाइबनीज का सिद्धान्त, अगोचरता का नियम, बौद्धिक जगत् तथा भौतिक जगत् में समान रूप से लागू होता है। यह प्रकृति का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि दो सभी प्रकार से समान घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होती है। श्याम के जुड़वे बच्चों में असमानता के लक्षण थे। यह अकाट्य नियम दार्शनिक जगत् में भी लागू होता है। महाभारत में कहा गया है–नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।

काल और दिक् विज्ञान एवं दर्शन के मूलभूत तत्त्व हैं। वस्तुवादियों के बीच भी मतैक्य नहीं है किन्तु वे मानते हैं कि दिक् एवं काल वास्तविक तथ्य हैं। वे सृष्टि के आधार एवं माध्यम हैं। आदर्शवादी इन्हें केवल प्रातिभासिक अस्तित्त्व प्रदान करते हैं। संशयवादी, विशेषकर शून्यवादी, दिक् एवं काल के अस्तित्त्व का निषेध करते हैं। वस्तुवादियों एवं आदर्शवादियों में भी मतैक्य नहीं है। मैंने इन प्रस्थानों के विचार सही रूप से रखने का प्रयास किया है। मैंने उनके तर्क एवं निष्कर्ष की

समीक्षा की है। किन्तु मैं मात्र प्रतिपादक बनकर नहीं रह गया, बल्कि मैंने सभी प्रस्थानों के विचारों की गहन समीक्षा की है तथा मैंने अपने संदेह एवं कठिनाई का उल्लेख निस्संकोच किया है।

दिक् एवं काल की अवधारणा शायद विश्व सृष्टि के पूर्व भी रही होगी और सदा किसी-न-किसी रूप में बनी रहेगी। सभी दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने इस समस्या के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। मेरे प्रयास की नवीनता यह है कि मैंने प्राचीन वैदिक विचारों से लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों की विचारधाराओं का पर्यावलोकन किया है।

विभिन्न दार्शनिकों के विचारों को जहाँ हमने ईमानदारी से रखा है, वहीं उनके विचारों की तथ्यपरक आलोचना भी की है। वहीं अपने इस प्रयास में मुझे बौद्धिक गुत्थियों का सामना करना पड़ा है। मैं नहीं जानता हूँ कि मेरे श्रम के अनुरूप मेरा कार्य हुआ है। इसका मूल्यांकन मैं पाठकों पर छोड़ देता हूँ। किन्तु यह श्रम मैंने प्रसन्नतापूर्वक किया है। तर्क-वितर्क के बीच मैं कभी घबड़ाहट में नहीं पड़ा क्योंकि मेरा लक्ष्य निश्चित था। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि दिक् एवं काल जादूगर की छड़ी से उड़ाया नहीं जा सकता। हमें इन्हें मानना ही पड़ेगा। वैदिक ऋषियों के विचार, तार्किक युक्तियों से अनभिज्ञ, शायद सबसे अधिक तर्कसंगत है। दिक् एवं काल भौतिक जगत् एवं मानसिक जगत् के ताने-बाने हैं चाहे कोई इसे स्वीकार करे अथवा से इसके अस्तित्त्व को तर्क अस्वीकार करे। मैं अपनी कृति में निहित कमजोरियों के प्रति सजग हूं। मेरा श्रम सफल होगा, यदि मेरे ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहणकर कुछ शोधार्थी इस अवधारणा के अन्य पक्ष पर आगे काम करने का प्रयास करेंगे। मेरा प्रस्तुत मानव चिन्तन, विशेषकर दिक् एवं काल की समस्या के संबंध के लिए एक समान आधार प्रदान करेगा। किन्तु दृष्टिकोण में भिन्नता एवं फल में विविधता से घबराहट नहीं होनी चाहिए। अपरावर्ती सहमति बौद्धिक विकास के लिए घातक है। वैज्ञानिक शोध का भविष्य स्वतंत्र चिन्तन को कुंठित करने पर निर्भर नहीं करता बल्कि स्वतंत्र चिन्तन के लिए मुक्त वातावरण निर्माण कर और सहमति के आधार पर ध्यान केन्द्रित करने में भी उज्ज्वल भविष्य का निर्माण संभव है। सुदूर भविष्य में भी चरम सत्य

तक पहुँचना संभव नहीं लगता है। इस बीच में, हमें आलोचना एवं प्रत्यालोचना से घबराना नहीं चाहिए। दृष्टिकोण की भिन्नता निश्चय ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रेरित करती है।

मैं डॉ॰ सत्करि मुकर्जी, तत्कालीन निदेशक, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा का चिर ऋणी रहूँगा। उनके चरणों में बैठकर मुझे अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। वे प्रख्यात भाषाविद् एवं पौर्वात्य दर्शन के प्रकांड पंडित थे।

मैं उन सभी लेखकों का कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रंथों को पढ़कर इस ग्रंथ के लेखन में उनका उपयोग किया, जिनके विचारों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे प्रभावित किया है।

कुमार किशोर मंडल

पूर्व अध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय सेवा आयोग

एवं

पूर्व कुलपति, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

एवं पूर्व कुलपति, मगध विश्वविद्यालय, बोध-गया, बिहार

विषयानुक्रमणिका

		पुरोवाक्	iii
		भूमिका	१-१०
प्रथम अध्याय	:	वेद और वेदाङ्गों में दिक् एवं काल की अवधारणा	११-१६
द्वितीय अध्याय	:	उपनिषदों में दिक् और काल की अवधारणा	१७-२३
तृतीय अध्याय	:	पुराणों एवं महाकाव्यों में दिक् और काल की अवधारणा	२४-४४
चतुर्थ अध्याय	:	बौद्ध एवं जैन दर्शन में दिक् एवं काल की अवधारणा	४५-६५
पञ्चम अध्याय	:	न्यायवैशेषिक में दिक् एवं काल का विचार	६६-८७
षष्ठ अध्याय	:	सांख्य योग में दिक् एवं काल का विचार	८८-९४
सप्तम अध्याय	:	मीमांसा में दिक् एवं काल का विचार	९५-१००
अष्टम अध्याय	:	वेदान्त में दिक् एवं काल का विचार	१००-११६
नवम अध्याय	:	आधुनिक वैज्ञानिकों-दार्शनिकों के विचारों का अवलोकन : न्यूटन, आइन्सटीन, सर जेम्स जीन्स,	११७-१३४

सर ए.एस.एडिंगटन और
एलेक्जेन्डर
निष्कर्ष की समीक्षा १३५-१४८
सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची १४९-१५६
नामपदानुक्रमणिका १५८-१६०

भूमिका

काल की अवधारणा पर सभी युगों में काल के स्वरूप के संबंध में विचार होता रहा है। पुरातन युग से आधुनिक काल तक इस पर अविच्छिन्न चिन्तन होता आरहा है, फिर भी कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकल सका है।

जनसाधारण काल को एक धारा मानते हैं, जो जल-धारा की तरह एक क्षण से दूसरे क्षण की ओर बह रही है, या भविष्य की ओर जा रही है किन्तु घटनायें बहकर पीछे की ओर लौट रही हैं। यह एक विरोधाभास है। इस विरोधाभास का निराकरण करने में चिन्तक एवं दार्शनिक सतत प्रयत्नशील है।

काल की धारा में परिवर्तन की कल्पना निहित है! किन्तु वैदिक चिन्तकों की परिकल्पना है कि परमसत्ता अपरिवर्तनीय है। उन्होंने जगत् को सत्ता का आभास मात्र माना है, वास्तविक सत्ता नहीं। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। दूसरे, बड़े दार्शनिक, परमेनायडिस, इसी निष्कर्ष पर तार्किक विश्लेषण के बाद पहुंचे हैं। परमेनायडिस, इटली के एलिया के रहने वाले थे। उन्होंने कहा कि वस्तु या तो है या नहीं है। जो नहीं है, उसका कोई अस्तित्त्व नहीं है, न उस पर सोचा जा सकता है और न ही बोला जा सकता है। क्योंकि यह तार्किक दृष्टि से असंभव है। भूत के संबंध में सोचा और बोला जा सकता है। अतः भूत का अस्तित्त्व समाप्त नहीं होता है, वह अस्तित्त्व में है। भविष्य के संबंध में भी सोचा जा सकता है और बोला जा सकता है। अतः भविष्य को आने वाला समय नहीं कहा जाना चाहिये। इस प्रकार काल अपरिवर्तनीय है। किन्तु यह तर्क

दोषपूर्ण है। भूत की कोई घटना जब वर्तमान में थी तो सोची और बोली जा सकती थी क्योंकि उसे इस प्रत्यक्ष अनुभव से जानते थे। किन्तु भूत की घटनाओं के संबंध में प्रत्यभिज्ञा के आधार पर सोच सकते हैं या बोल सकते हैं। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। परमेनायडिस इस अन्तर को नहीं समझ सके कि भूत की घटनाएं जब वर्तमान रहती हैं तो उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जब भूत बन जाती हैं तो उनका ज्ञान प्रत्यभिज्ञा के द्वारा होता है। बर्टराँ रसेल ने दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा इसका समाधान ढूंढा है।

परमेनाइडिस को जेनो के रूप में प्रबल समर्थक मिला। काल अपरिवर्तनीय है, इसके पक्ष में जेनो ने विभिन्न तर्क दिये हैं–

(१) तुम एक विशेष दूरी को विशेष समय में तय करते हो। लेकिन तर्क कहता है कि तुम ऐसा नहीं कर सकते हो क्योंकि तुम्हें विशेष दूरी को दो भाग में बांटना होगा और तुम्हें आधी दूरी अन्त तक पहुंचने के पहले तय करना होगा। इस प्रकार एक रेखा में असंख्य बिन्दु होते हैं। अतः इसका असंख्य विभाग होगा, जिसे तय करना असंभव है। अतः तुम कभी अन्त तक नहीं पहुँच सकते। इस प्रकार परिवर्तन अकल्पनीय है।

(२) दूसरा तर्क है कि एक कछुआ को दौड़ शुरू करने के लिए कहा जाय और उसके बाद टॉय के एचिलिस, यद्यपि बहुत तेज दौड़ने वाला, कछुए को पकड़ने में असमर्थ रहेगा। कछुआ अनन्त तक एचिलिस से आगे ही रहेगा। वास्तव में कोई गति नहीं होती है।

(३) तीसरा तर्क है एक तीर जो अपने लक्ष्य बिन्दु पर पहुँचने वाला दिखाई पड़ता है। वह विशेष क्षण में दिक् के विशेष बिन्दु पर होता है या दूसरे शब्द में उसकी गति० (शून्य) होती है।

(४) चौथा तर्क है कि यदि ठोस पदार्थ के तीन कतार हों और बीच का ठोस पदार्थ स्थिर हो और बचे हुए दो ठोस पदार्थ विपरीत दिशा में एक ही गति से चलता हो तो एक कतार का ठोस पदार्थ दूसरी

कतार के ठोस पदार्थ, जो गतिशील है स्थिर ठोस पदार्थ से दुगुनी गति से बढ़ेगा या एक ही समय में वे दोगुने ठोस पदार्थ आगे बढ़ेंगे, दूसरी स्थिति की तुलना में। इस प्रकार किसी वस्तु का एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक बढ़ना किसी विशेष कालखंड की संगति में नहीं होता। इस प्रकार कोई परिवर्तन नहीं होता और कोई निरपेक्ष काल नहीं होता।

जेनो के विरोधाभास ने उनके बाद के दार्शनिकों, चिन्तकों एवं लेखकों को काल की अवधारणा का विशेष अध्ययन के लिए प्रेरित किया है। समीक्षा के बाद दार्शनिकों ने जेनो के विरोधाभास का खंडन निम्नलिखित आधार पर किया है–

जेनो का प्रथम तर्क, जिसमें उन्होंने दिक्, काल एवं परिवर्तन को मिथ्या माना है, निराधार है क्योंकि उन्होंने पहले ही काल के अस्तित्त्व को मान लिया है। दूसरे तर्क में, काल के असंख्य विभाग की कल्पना करना उनके तर्क का खडन करता है। तीसरे तर्क में दूसरी मान्यता का निषेध करता है और पूर्ण विराम के अस्तित्त्व को अस्वीकार करता है।

जेनो की सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने अरस्तू, न्यूटन, लाइबनिज, आइन्सटाइन, कान्ट, डेगार्ट जैसे चिन्तकों को "काल" के विभिन्न पक्षों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया।

भारतीय दर्शन में "काल" के विभिन्न पक्षों पर वैदिक युग से ही सतत चिन्तन हो रहा है। पाश्चात्य दर्शन में विशेषकर आधुनिक दर्शन में दिक् एवं काल का विशेष अध्ययन किया गया है किन्तु प्राच्य दर्शन में "काल" एवं दिक् का विशेष अध्ययन आधुनिक काल में भी नहीं हुआ है।

मेरा विनम्र प्रयास है कि पाश्चात्य जगत् को "काल" एवं दिक् के संबंध में भारतीय चिन्तन से परिचित करवाऊँ।

शतपथ ब्राह्मण के अध्याय २/१/३/१,३ में लिखा है–

वसन्तो ग्रीष्म वर्षाः। ते देवाऋतवः शरद्हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो च

एवापूर्यतेर्द्धमासः स देवा सोऽपक्षीयते स पितरोहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाऽश्रपराह्नः पितरः॥१॥

स यत्रोदङ्डावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवाॅसह्यिमिगोपात्यय यत्र दक्षिणाऽवर्त्तते तर्हि भवति पितृं स्तहर्याभिगोपायितिं॥३॥

वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा–ये देवों की ऋतुएं हैं, और शरद्, हेमन्त और शिशिर–ये पितरों की ऋतुएँ हैं। शुक्लपक्ष देवताओं का है और कृष्णपक्ष पितरों का है। दिन के अधिपति देवता हैं और रात्रि के पितर हैं। फिर दिन का पूर्वार्द्ध देवताओं का और उत्तरार्द्ध पितरों का।

जब सूर्य उत्तर की ओर बढ़ता है अर्थात् उत्तरायण में, वह देवताओं का अधिपति होता है और दक्षिणायन पितरों का अधिपति होता है।

ऋक्संहिता और शतपथ ब्राह्मण के इन अवतरणों से स्पष्ट जाना जाता है कि नक्षत्र, चन्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतुपरिवर्तन दक्षिणायण, उत्तरायण के साथ-साथ आकाश-चक्र में सूर्य की महिमा का तांत्रिक ज्ञान ऋषियों ने हमें प्रदान किया है। भारतीय नक्षत्र-विज्ञान और आधुनिक पाश्चात्य नक्षत्र विज्ञान (एस्ट्रानॉमी) की पद्धतियों में अन्तर यह है कि भारतीय नक्षत्र-विज्ञान देव का प्रमुख अंग अर्थात् नेत्र माना जाता था। क्योंकि वैदिक अनुष्ठानों के लिए काल-निर्णय करने में नक्षत्रों की गति पर विशेष ध्यान जाता था। दर्श-पौर्णमास यज्ञ तथा सांवत्सरिक अहिन योग तथा सहस्रों वर्षों में समाप्त होने वाले सत्रों के अनुष्ठान में काल-गणना करने के लिए ज़ो नक्षत्रों के बीच विविध स्थितियों में सूर्य का संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र विद्या का व्यावहारिक ज्ञान ऋषियों ने प्रदान किया। तदनन्तर उसी आधार पर आगे नक्षत्रों के बीच में संक्रमण करने वाले सूर्यमण्डल के अन्यान्य ग्रहों की गति और स्थिति तथा उसके द्वारा होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया गया। नक्षत्र मण्डल को राशि-चक्र में विभाजितकर प्रत्येक राशि के साथ सूर्य-संक्रमण को देखकर राशियों के नाम पर मेषादि द्वारा सौरमासों का अवलोकन किया और पूर्णचन्द्र की अर्थात् पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र विशेष के पास चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमासों का ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् जिस मास की

पूर्णिमा चित्रा नक्षत्र से मुक्त थी, उसे ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, पूर्वाषाढ या उत्तराषाढ से आषाढ, श्रवण से श्रावण, पूर्वभाद्रपद या उत्तरभाद्रपद में भाद्रपद, अश्विनी से आश्विन, कृत्तिका से कार्तिक, मृगशिरसि से मार्गशीर्ष, पुष्य से पौष, मघा से माघ, पूर्वाफाल्गुनी या उत्तराफाल्गुनी से फाल्गुनमास प्रदान किया गया।

परन्तु पाश्चात्य देशों में प्रकारान्तर से जो कुछ भारतीय नक्षत्र-विज्ञान का अरब-ग्रीक लोगों के द्वारा प्रसार हुआ वही उनके एतद्विषयक ज्ञान का मूलधन था। इसी आधार पर यन्त्र युग के विकास के साथ उन्होंने दूरवीक्षणा यन्त्रों का क्रमशः आविष्कार किया। और उसके द्वारा प्रत्यक्ष उनकी स्थितियों को अवलोकन करने का प्रयत्न किया। इस विज्ञान के साथ-साथ गणित की जो सम्पत्ति हमसे उनको मिली थी, उसको उन्होंने बहुत कुछ समृद्ध किया, वह उनकी विशेषता है। परन्तु दिन, मास, ऋतु, अयन अथवा राशि-चक्र का जो यहां नामकरण हुआ था उसको अधूरा ही उन्होंने अपनाया। यहां दिनों का नाम रवि, चन्द्र, सोम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि प्रभृति ग्रहों के नाम पर आबद्ध था। उसे तो उन्होंने ग्रहण किया, परन्तु महीनों का नाम उनके यहां अवैज्ञानिक ढंग से रक्खा गया, चन्द्र और सूर्य की गति के साथ जो नक्षत्र अथवा राशियों, महीनों का निर्माण करती हैं, उनकी पर्याप्त उपेक्षा की गयी और जनवरी, फरवरी आदि नाम ही नहीं, बल्कि इनकी स्थिति भी चन्द्र-सूर्य की गति से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती अतएव पाश्चात्यों का मास और वर्षों की गणना हमारे सौर वर्ष के आधार पर होते हुए भी अनर्गल सी है और भारतीय शैली सर्वथा पूर्ण और वैज्ञानिक है।

सूर्य जिस आकाशमार्ग से नक्षत्र मण्डल में होकर जाता है, उसके द्वादश समान भाग कर मेष, वृष, प्रभृति राशियों की अवधारणा की गयी। मेषराशि के प्रथम बिन्दु पर जब सूर्य उदय होता है तब से लेकर जब वह पुनः उसी बिन्दु पर आ जाता है, तब तक हिन्दुओं का एक सौर वर्ष होता है। अर्थात् नक्षत्र मण्डल में सूर्य का एक संक्रमण-काल एक सौर वर्ष कहलाता है। **सूर्यसिद्धान्त** में सौरवर्ष ३६५.२५८७५६४८४ दिनों का माना

जाता है। आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध नक्षत्र विज्ञान वेत्ता डब्लू. एम. स्मार्ट के अनुसार यह संख्या ३६५.२५६४ दिनों की है। भारतीय वर्ष इससे .००२३ दिन अधिक हो जाता है। आजकल के पाश्चात्य नक्षत्र विज्ञान के मत से यह वर्ष अनुमानतः ३६५.२५९६ दिनों का होता है, जो भारतीय मत से .०००८ दिन बड़ा होता है। भारतवर्ष में जो मेष-संक्रान्ति से वर्ष गणना की जाती है उससे साठ वर्षों के संवत्सरचक्र का हिसाब ठीक-ठीक मिलता है। इन संवत्सरों के अलग-अलग प्रयव, विभव और शुक्ल आदि नाम दिये गये हैं।

सूर्यसिद्धान्त के अनुसार हिन्दुओं के द्वारा जो काल-गणना की जाती है, उसके समान विश्व की किसी जाति की कोई भी काल-गणना नगण्य सिद्ध होती है। हमारे शास्त्रों के मत से ४,३२,००० सौर वर्षों का कलियुग होता है। द्वापर में ८,६४,००० वर्ष होते हैं, त्रेता में १२,९६,००० वर्ष और कृतयुग में १७,२८,००० वर्ष होते हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्षों का एक महायुग होता है। १००० महायुगों का एक कल्प होता है। अर्थात् एक कल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। कल्प की गणना करने वाले ज्योतिर्विदों ने यह भी निश्चय किया था कि प्रत्येक ७१४ वर्षों में अनयान्त १०° पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्ष में १२ राशियों में एक राशि में ३० अंश, १ अंश में ६० कला, एक कला में ३० काष्ठा और एक काष्ठा में १८ निमेष अर्थात् सूक्ष्मतम कालगणना देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्क ने इस विषय में कितना सफल प्रयास किया है। इतना बड़ा कालज्ञान दूसरे किसी देश के निवासियों को अब तक नहीं हुआ।

भारतीय नक्षत्र-विज्ञानवेत्ताओं ने क्रान्तिवृत्त को २८ भागों में विभाजित किया, इस प्रकार चन्द्रमा के मार्ग में पड़ने वाले २८ तारा-समूह हो गये, जिन्हें चान्द्र नक्षत्रों के नाम से पुकारते हैं। पीछे चलकर इसमें सुधार हुआ और २८ के स्थान में २७ ही चान्द्र नक्षत्र माने गये और क्रान्तिवृत के २७ बराबर भाग करके १३.२० (तेरह अंश, बीस कला) प्रत्येक नक्षत्र का क्षेत्र रक्खा गया। प्रत्येक क्षेत्र में जो सबसे अधिक चमकता हुआ तारा दीख पड़ता है, उसका नाम योगतारा रक्खा गया और नक्षत्र का जो

उपर्युक्त क्षेत्र था, वह उसका भाग कहलाया। योगतारा के साथ-साथ कुछ महत्वपूर्ण और सुप्रकाशित ताराओं का भी नाम और स्थान निश्चय किया गया। उनमें दक्षिण में लुब्धक और अगस्त्य तथा उत्तर में अभिजित, ब्रह्मद्य, अग्नि और प्रजापति मुख्य हैं। इनके सिवा क्रान्तिवृत्त के समीप रहने वाले दूसरे प्रकाशमान तारे, जिसकी आवश्यकता ग्रहों के लुब्धक की गणना में पड़ती है, निश्चित किये गये। उनमें मेघा, रेवती, पुष्य, शततारका और चित्रा मुख्य हैं। रत्नमाला नाम के ग्रन्थ में इन तारों का उल्लेख आता है। पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने सम्पूर्ण आकाश के ताराओं को एंड्रोमेडा (Andromeda) आदि विभिन्न प्रकार के ८८ तारा-मण्डलों में विभाजित किया है। यह तारा-मण्डल की सूची बनाने की शैली चीन निवासियों की प्राचीन शैली का अनुकरण है। भारत में अनावश्यक ताराओं की सूची बनाकर काल-गणना तथा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि की स्थिति का निश्चय अपने धार्मिक कृत्यों के लाभार्थ किया गया था। सूर्य और चन्द्रग्रहण के साथ-साथ चन्द्र की गति में होने वाले तारा ग्रहण का भी सूक्ष्म ज्ञान भारतीयों को था, इस प्रकार चन्द्र के द्वारा मघा का ग्रहण प्रायः हुआ करता है। ग्रहों के सिद्धान्त पर भास्कराचार्य ने अपने "सिद्धान्तशिरोमणि" नामक ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। परवर्तीकाल में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने इस विज्ञान के विषय में विशेष अनुसंधान किया है।

नक्षत्र-मण्डल के बीच होकर भ्रमण केवल चन्द्र और सूर्य की ही स्थिति और गति का निरीक्षण आर्यों ने किया; बल्कि उनके साथ-साथ मंगल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र और शनि नामक अन्य पांच ग्रहों की गति और स्थिति का भी निरीक्षण किया और क्रान्तिवृत्त ने इनकी ऋजुचक्र गतियों के साथ अतिचार और मन्दगति को भी देखा। इन पाँचों के अतिरिक्त रवि-चन्द्र तथा तमोग्रह, राहु, केतु को लेकर नौ ग्रह माने गये हैं। पाश्चात्य के लोगों ने चन्द्र के स्थान में पृथ्वी को ग्रह माना है, और राहु-केतु को छोड़कर यूरेनस, नेप्च्यून और प्लूटो-इन तीन ग्रहों को लेकर १० ग्रह माने हैं। ग्रह-गति के विषय में भारतीय और पाश्चात्य गणना में बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ता है।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में केतु अर्थात् पुच्छलताराओं का वर्णन आता है। उन्होंने पहले शुभकेतु और धूमकेतु नाम से दो भेद किये हैं और छोटे आकार के देखने में शोभनीय, सीधे और श्वेतवर्ग के केतुओं, जो थोड़े समय में अस्त हो जाता है, शुभकेतु नाम दिया है। इसके विपरीत अशुभ दर्शन वाले धूमकेतु हैं। बृहत्संहिता में सूर्यादि ग्रहों पृथ्वी और विभिन्न नक्षत्रों से उत्पन्न होने वाले सहस्रों केतुओं का वर्णन है, जिसमें उसकी गति, स्थिति तथा उनके उदय से होने वाले शुभाशुभ परिणामों का भी वर्णन किया गया है। सुदीर्घ काल के अध्ययन का यह परिणाम है कि हमारे यहाँ धूमकेतु के इतने भेदों का अवलोकन करके उसके पश्चात् होने वाले फलों का निरीक्षण कर लिपिबद्ध कर दिया गया है। पाश्चात्य नक्षत्र-विज्ञान ने अभी केवल १५वीं शताब्दी से ही इस विषय में अनुसंधान प्रारम्भ किया है। पहले पहल १४५७ ई० में दिखलाई देने वाला धूमकेतु, जो १६२५, १८१८ और १८७३ तथा १९२८ ई० में दिखलाई दिया था। कुछ दूसरे प्रसिद्ध धूमकेतु जो निरीक्षण करने वाले के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे हैं–हैली, डोनाटी, डैनियल और पेल्टियर। पाश्चात्यों की जानकारी में १७४४ का धूमकेतु जिसकी छ: पूँछे थीं; सबसे बड़ा आश्चर्यजनक धूमकेतु था। इसके सिवा पाँच-सात और धूमकेतुओं का उल्लेख पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञान ने किया है। परन्तु बृहत्संहिता में तो भयानक-भयानक रंगीली पूँछवाले अग्निकेतु, जो अग्निकोण में उगते और विलीन हो जाते हैं। तीन पूँछवाले ब्रह्मदण्ड केतु, लालरंग का कोडिमकेतु, बांस की आकृति वाले चन्द्रमा के समान कंक नाम के केतु इत्यादि सहस्रों धूमकेतुओं का वर्णन पाया जाता है।

बृहत्संहिता में जो वर्णन मिलता है, वह आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। अन्तर केवल इतना है कि वराहमिहिर ने द्युलोक से फलोपभाग करके गिरने वाले लोक नाम से उन्हें पुकारा है। और पाश्चात्य ज्योतिर्विद् उन्हें नीहारिकापुंज के रूप में देखते हैं। भारत का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने के कारण सर्वत्र, यहाँ तक कि ज्योतिर्लोकों में भी, उन्हें धर्म-तत्त्व की ही चमक दीख पड़ती है, परन्तु पश्चिम का विज्ञान जड़तावादी होने के कारण सर्वत्र जड़ बुद्धिकी प्रधानता को ही

घोषित करती है। परन्तु चिरकाल से दृष्ट और अनुभूत होने के कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है। आकाश में होने वाली प्रमुख घटनाओं के विषय में हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है। इसके विपरीत पाश्चात्यों का आसुरी विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है। क्योंकि भारतीय ज्योर्तिविज्ञान हमारे धार्मिक जीवन के लिए उपयोगी है और पाश्चात्यों का सामाजिक जीवन इससे वर्जित रहता है; अतएव इस ज्ञान की महिमा वहाँ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहाँ है। इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं–

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत्
प्रधानतांगेषु ततोऽस्य युक्ता।
अंगैर्यतोऽन्यैरपि पूर्णमूर्ति-
चक्षुर्विना कः पुरुषत्वमेति।।
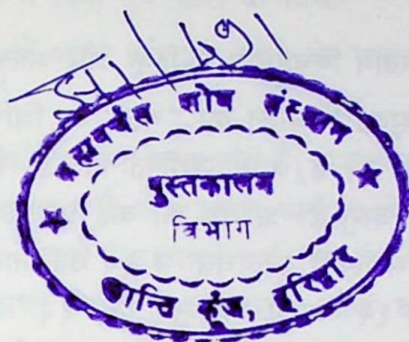
प्रथम अध्याय

वेद और वेदाङ्गों में दिक् एवं काल की अवधारणा

वेद को दार्शनिक विचारों का समुच्चय नहीं कहा जा सकता किन्तु वेद को परिपक्व चिंतन का ग्रंथ अवश्य माना जायगा। वैदिक ऋचाओं में विभिन्न देवताओं को विश्व का मूल कारण बारी-बारी से माना गया है एवं प्रत्येक देवता को उच्चतम स्थान दिया गया है। वैदिक कवियों की इस प्रवृत्ति के कारण मैक्समूलर ने इस वाद का नाम "हेनोथेइज्म" दिया है। वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को उच्चतम स्थान देते हैं।

प्रो० थडानी ने अपने ग्रंथ, "दि मिस्ट्रीज ऑफ महाभारत" में संस्कृत भाषा की वर्णमाला के विश्लेषण के आधार पर दिक् एवं काल के बोध पर प्रकाश डाला है एवं दोनों के बीच संबंध को दर्शाया है। "काल" शब्द विशेष अर्थ का परिचायक है। "क" व्यंजन का प्रथम वर्ण है अत: विश्व में यह पहला तत्त्व है। वर्णमाला का द्वितीय वर्ण "ख" है, अत: व्यक्त विश्व का दूसरा तत्त्व "आकाश या दिक्" है। इस प्रकार "काल" आकाश में व्यक्त होता है किन्तु यह "सूर्य" की ऊर्जा है। काल, दिक् से प्रवर है क्योंकि दिक् की उत्पत्ति काल से होती है। काल की दिक् के साथ उत्पत्ति या विनाश नहीं होती है। दिक् के विनाश के बाद काल का अव्यक्त स्वरूप हो जाता है, इसका विनाश नहीं होता।[१]

---

१. दि मिस्ट्रीज ऑफ महाभारत

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में काल को "यज्ञ" के विभिन्न साधनों से जोड़ा गया है यथा वर्षा घी है, गर्मी ज्वलित लकड़ी है तथा शिशिर ब्राह्मण को दान देने की वस्तु है। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में काल का बोध निहित है। द्युलोक में स्थित कालचक्र में १२ अविनाशी "आरा" है। ये "१२" अंक या तो "१२" राशि के लिए या "१२" महीने के लिए प्रयुक्त हुआ है। वर्ष के ३६० दिन में ७२० दिन-रात हैं, यदि दिन एवं रात को अलग-अलग लिया जाय।

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसि वासरोऽसि उषसस्ते कल्पन्ता-महोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्ध मासास्ते। कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ता संवत्सरसते कल्पताम्।

(यजु०-२७.४५)

यजुर्वेद की उपर्युक्त ऋचा में काल के विभिन्न विभाजनों को निरूपित किया गया है। वे हैं–संवत्सर, परिवत्सर, ईदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर, ऊषा, अहोरात्र, अर्द्धमास, मास एवं ऋतु। सौर्य एवं चान्द्र वर्ष पांच वर्ष के अन्तराल में एक बार साथ होते हैं। जहां तक संभव हो सका, भारतीय ज्योतिष में सौर्य एवं चान्द्र परिक्रमा में संगति बनाये रखने का प्रयास किया गया है। चन्द्र परिक्रमा से अहोरात्र एवं अर्द्धमास की उत्पत्ति होती है और सौर्य परिक्रमा से ऋतु एवं संवत्सरकी उत्पत्ति होती है। प्राचीन परंपरा में "सप्ताह" नहीं पाया जाता है। ज्योतिष में "सप्ताह" की गणना नहीं है। एक मास में सामान्यतः ३० (तीस) दिन होते हैं और उनके गुणांक हैं १५, ६, ५, १०, ३, २। ऐतरेय ब्राह्मण में "त्रय" तीन दिनों का होता है और द्वादस का अर्थ है बारह दिन। वैदिक ग्रंथों में "सप्ताह" का प्रसंग नहीं है।

अथर्ववेद के प्रसिद्ध सूक्त में काल का बोध वर्तमान है। "काल" में परिवर्तन की शक्ति निहित है। कोई क्रिया, परिवर्तन एवं रूपान्तरण काल के बिना संभव नहीं है। किसी घटना में गति का क्रम ही परिवर्तन है। यह क्रम अनन्त काल तक चलता है।

अथर्ववेद में काल के संबंध में निम्नलिखित विचार हैं –

(१) अथर्ववेद में काल को एक घोड़े के समान माना है, जिसके सात लगाम हैं[१]।

(२) "काल" को अजन्मा माना गया है। इस प्रकार के काल को उच्चतम स्थान दिया गया है और इसके अन्तर्गत येष्ठ, ब्राह्मण और सत् को माना गया है इसे "कश्यप" एवं तपस् का भी शृष्टिकर्त्ता माना गया है। यह सभी ईश्वर तथा उच्चतम लोक का शासन करता है।[२]

(३) काल को उच्चतम "तेजस्" माना जाता है जो "भुवन" की उत्पत्ति एवं पालन करता है। दोनों तत्त्व इससे उत्पन्न होते हैं और इसी में विलीन हो जाते हैं।[३]

(४) "काल" जिसके सात चक्र एवं हजार आंख हैं, वह "पितृ" से भिन्न है। इस प्रकार "काल" एवं पितृ दो तत्त्व हैं, जो "समय" बताते हैं। प्रथम को सात चक्र हैं और प्रत्येक चक्र में बारह आरा हैं और द्वितीय को केवल पांच आरा वाला चक्र होता है। ऋग्वेद संहिता में वर्णित संवत्सर जैसा ही "पितृ" है।[४]

काल को अथर्ववेद में अधिसंवत्सर माना गया है। संवत्सर ईश्वर का केवल एक दिन है। काल के ऋतु या परिवर्तन के दो पक्ष हैं–संवत्सर एवं अधिसंवत्सर। काल के उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर डॉ॰ एफ॰ एस्क्रोडर के इस कथन की पुष्टि होती है कि अथर्ववेद में अनुभवजन्य एवं अनुभवातीत काल का विभाग मिलता है।

पैप्पलवादी अथर्ववेद के आधार पर हम कह सकते हैं कि १२ ऋतुएं हैं जो ६ (छः) रजसोविमान के बीच रहता है। ऋतु महीने का पर्याय है और रजसोविमान, ऋतु का[५]।

---

१. अथर्व॰, XIX-५३.५४

२. वही, XIX-५३.१२

३. वही, XIX-५३.४

४. ऋग्॰, I. ६४–५-१२

५. पैप्लादी अथर्व॰, I. १०२

पैप्पलवादी अथर्ववेद में चार युगों का उल्लेख है यथा–कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि। किन्तु इनके अर्थ पारंपरिक अर्थ से भिन्न हैं।[१] इस संहिता में स्वर्ग एवं पृथ्वी के बीच के स्थान को अंतरिक्ष कहा गया है।[२]

शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति को वर्ष का पर्याय माना गया है। प्रजापति सृष्टिकर्त्ता हैं, अत: वे काल के भी प्रतीक हैं। इस अवधि में प्रकृति एक बार परिक्रमा कर लेती है। यज्ञ का भी काल स्वरूप प्रजापति से तादात्म्य संबंध है। यद्यपि याज्ञिक कर्मों से पुण्य इकट्ठाकर एक मनुष्य सौ वर्ष जी सकता है किन्तु अन्त में उसकी मृत्यु होगी ही क्योंकि कालस्वरूप प्रजापति ही उन्हें सांसारिक दु:खों से छुटकारा दिलाने के लिए मृत्यु वरण करने के लिए बाध्य करते हैं। यहां काल को सृष्टिकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता दोनों ही माना गया है।

अहिरबुध्न्य संहिता में "काल" के विकसित स्वरूप की चर्चा है। इस संहिता का स्रोत वैदिक एवं तांत्रिक दोनों ही माना जाता है। श्री वैष्णव इस संहिता को वेद के समान ही प्रामाणिक मानते हैं। "मनु" की भ्रूण अवस्था में "काल" वर्तमान रहता है। कालशक्ति से सूक्ष्म नियति की उत्पत्ति होती है। "काल" एवं गुण शक्ति के गर्भ में मौजूद रहते हैं। "शक्ति" सांख्ययोग की प्रकृति से भिन्न है। काल का संबंध गुण से है। प्रलय की एक अवस्था में विश्व को काल के रूप में स्थित माना गया है। काल को सभी पदार्थों में परिवर्तन का कारण माना जाता है, अत: इसे अशेष–प्रकालिनि भी कहा गया है।[३] काल को संहार कर्त्ता भी माना गया है।[४] काल सभी प्रकार के पदार्थों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार नदी अपने किनारे को नष्ट कर देती है।

प्रकृति एवं काल के द्वारा ही सृष्टि का विकास होता है। प्रकृति उपादान कारण है। पुरुष यद्यपि निष्क्रिय है किन्तु उसकी उपस्थिति से ही

---

१. पैप्लादी अथर्व०, I. ४९

२. वही, I–९३

३. अहिरबुध्न्य सं०, IV. ४८

४. वही, IV. ५१

विकास प्रक्रिया शुरू हो जाती है। काल को संरचनात्मक कारण माना जाता है, जो विकास की प्रक्रिया में गति प्रदान करता है। किन्तु प्रकृति, पुरुष एवं काल विकास के क्रम को आगे नहीं बढ़ा सकता जब तक कि ईश्वर आध्यात्मिक गति नहीं प्रदान करे। इस प्रकार ईश्वर ही गति प्रदान करता है। विकास के प्रथम तत्त्व को महत्, बुद्धि या प्राण कहते हैं। ये नाम ही गति प्रदान करते हैं। ये नाम क्रमशः सत्व, रजस् एवं तमस् के प्रभाव के कारण हैं। स्थूल काल को त्रुटि, लव आदि कहा जाता है।[१] डॉ० एस०एन० दासगुप्ता ने कहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि विचार एवं इच्छा के स्तर पर काल एकता स्थापित करता है क्योंकि काल को कलन कारण या संरचनात्मक कारण माना गया है।" इस प्रकार काल, वह गतिशील तत्त्व है, जो भौतिक एवं अभौतिक तत्त्वों को गति प्रदान करता है–

कालो बुद्धिस् तथा प्राण इति मेधा स गीयते
तमः-सत्त्वा-रजो-भेदात्- तत्-तद्-उन्मेष-संज्ञा।

-अहिरबुध्न्य सं० VII. १

दिक् का बोध वैदिक देवी-देवताओं में सन्निहित है यथा द्यौस् वरुण एवं अदिति। आकाश का प्राचीनतम देवता "द्यौस्" है। "द्यौस्" का संबंध आकाश से है। आकाश एवं पृथ्वी को प्रजनन का माध्यम माना गया है। आकाश पृथ्वी में गर्भाधान करता है और सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है। एक ऋचा में "द्यौस्" को मोती से अलंकृत कहा गया है। संभवतः तारे भरे आकाश का संकेत है।

अदितिर्द्यौः अदितिः अंतरिक्षम्
अदितिः माता स पिता स पुत्रः

–ऋग्० I-८९-१०

"द्यौः" को बादल में मुस्कुराते हुए कहा गया है अर्थात् बादल में चमकती हुई बिजली के संबंध में कहा गया है।

---

१. अहिरबुध्न्य सं०, VII.11— कालस् त्रुटि लवादि ....

वरुण का संबंध आकाश अनुमानजन्य गुण एवं लक्षण के आधार पर आकाश के रूप में बताया जाता है। वरुण का संबंध जल से भी है। किन्तु वह जल आकाशीय जल है न कि समुद्री जल।

आकाश, वह दिक् है, जिसमें उंगली घुसायी जा सकती है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वह स्थान जो आकाश और पृथ्वी के बीच में है, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। यह स्थान खाली था, इसलिए वायु से भर गया।[१] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में आकाश में सभी पदार्थों यथा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा एवं तारे आदि तथा जो कुछ भी वहां है अथवा नहीं है, को समाहित करने वाला माना गया है।[२]

अहिरबुध्न्य संहिता में आकाश को एक विकासज माना गया है। तमस् अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है और उससे आकाश उत्पन्न होता है आकाश में "शब्द" गुण है और यह (आकाश) सभी पदार्थों को स्थान प्रदान करता है। इस प्रकार आकाश को शून्य स्थान समझना चाहिए, जिसका "शब्द" गुण है।

दिक् एवं काल के इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक ऋषियों ने दिक् एवं काल को उच्चतम तत्त्व माना है, जिससे सभी स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व का विकास हुआ है।

यूनानी विचारधारा में "दिक्" को अन्तिम तत्त्व के रूप में फीलॉलॉस के समय में स्वीकार किया गया है। थेल्स, एनेक्सामिनिस, हिरेक्लीटस एवं एम्पीडॉम्लीस के अनुसार जल, वायु, आग एवं पृथ्वी को अलग-अलग या एक साथ विश्व का आधार कारण माना गया है। आग, जल, वायु एवं पृथ्वी आदि स्थूल तत्त्व हैं, अतः "दिक्" जैसे सूक्ष्म तत्त्व को विश्व का कारण मानना वैदिक ऋषि की दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है।

वैदिक काल गणना की तुलना आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से की जा सकती है। अथर्ववेद में काल को सूक्ष्मतम तत्त्व माना गया है। काल को अनुभवजन्य एवं अनुभवातीत दोनों ही माना गया है।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, III. ४.२.१

२. शतपथ ब्राह्मण, III. ३.२.१९

द्वितीय अध्याय

उपनिषदों में दिक् एवं काल की अवधारणा

वैदिक ऋचाओं की प्रारंभिक दार्शनिक प्रवृत्तियां विकसित दार्शनिक अवधारणाओं के रूप में आरण्यक एवं उपनिषद् में मिलती हैं। उपनिषद् के दिक् संबंधी विचार निम्नलिखित हैं:–

उपनिषद् आकाश को शून्य स्थान मानता है। इसे अशरीरी भी माना गया है। किन्तु आकाश के इस विचार को अपूर्ण माना गया है। वृहद् आरण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और गार्गी के बीच वार्तालाप में कहा गया है कि जिसे हम भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहते हैं, वह दिक् में ताना-बाना के रूप में बुना हुआ है। निम्न श्लोक में स्पष्टत: कहा गया है–

यद् भूतानि च भवच्च भविष्यच्च चेति आचक्षते, आकाशे तद् ओतं च प्रोतं चेति।[१]

ऊपर के श्लोक में दिक्-काल के क्रम की झलक मिलती है। यह उस क्रम का संकेत करता है, जिसमें दिक् एवं काल एक साथ मिले हुए हैं। दिक्-काल संबंधी आधुनिक विचार से इसकी तुलना की जा सकती है। किन्तु दिक् को परम सत्ता नहीं माना गया है।

---

१. छा. उप. - I. 9.1

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है–

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशाद् एव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति आकाशो हि एवैम्यो, ज्यायाम्, आकाशः परायणम्।

सभी जन्तु की उत्पत्ति आकाश से होती है। वे आकाश में ही विलीन हो जाते हैं। आकाश ही अन्तिम लक्ष्य है।

दूसरे श्लोक में स्पष्ट विचार मिलता है[१]–

आकाशे जायते, आकाशे अभिजायते, आकाशम् उपास्स्वेति

छान्दोग्य उपनिषद् के ही दूसरे श्लोक में आकाश को ऊं या उद्गीथ माना गया है। ऊं को सबसे ऊँचा माना गया है।[२]

दूसरे श्लोक में "खं ब्रह्मेति" कहा गया है। आकाश ही ब्रह्म है।

इस प्रकार दिक् अन्तिम सत्ता के रूप में माना गया है, जो प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, पालन एवं संहार का कारण है। दिक् विश्व का कारण है। यह विचार शब्द, प्राण, अन्न और जल आदि को कारण मानने से अधिक उपयुक्त है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश को आत्मा से उद्भूत माना गया है। **यथा आत्मन् आकाशात् संभूतः**। आकाश को बुद्धि की उपज माना गया है।[३]

ऐतरेय उपनिषद् में आकाश की उत्पत्ति प्रज्ञा से मानी गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में संकल्प से आकाश की उत्पत्ति मानी गयी है। ये विचार पाश्चात्य दर्शन के कान्ट के विचार के समान हैं। कान्ट ने माना है कि दिक् हमारे मस्तिष्क की उपज है और हम बाह्य पदार्थ पर इसे आरोपित करते हैं।

कौषीतकि उपनिषद् में, आकाश मात्र दिक् से भिन्न तत्त्व है। मनुष्य

---

१. छा॰ उप॰, - VII. १.१२.१

२. वही, IV. १०.४

३. तै॰ उप॰, II. १.१

की उत्पत्ति आकाश से होती है, जिस प्रकार गर्भ से होती है। वैदिक साहित्य में वर्णित जन्मदाता की कल्पना यहां मिलती है।[१]

मैत्री उपनिषद् में दिक्[२] एवं काल एक साथ पाये जाते हैं। आकाश की तुलना कमल के फूल से की गयी है जिसमें चार खंड हैं और चार खंड के बीच में चार खंड हैं।

सुबाल उपनिषद् में नारायण को ही दिक् माना गया है। इस प्रकार दिक् को परम सत्त के रूप में माना गया है।

लोक के संबंध में कहा गया है कि वे ब्रह्मा में ताना-बाना के समान बुने हुए हैं। पैंगल उपनिषद् में आकाश को सर्वव्याप्त माना गया है।

"यथा सर्वगतं व्योम'' पैंगल उपनिषद् ३४-१३

यद्यपि उपनिषदों में दिक् संबंधी विचार में भिन्नता है किन्तु सभी उपनिषद् दिक् को परम सत्ता मानते हैं। दिक् संबंधी कुछ विचार आधुनिक विचारों से मिलते-जुलते हैं।

उपनिषद् में चरम सत्ता या अन्तिम तत्त्व को समझने या जानने का प्रयास किया गया है। अन्तिम तत्त्व की खोज में प्राकृतिक पदार्थों का तादात्म्य संबंध उस सत्ता से स्थापित किया गया है। आकाश के माध्यम से निरपेक्ष ब्रह्म के स्वरूप को जानने का प्रयास किया गया है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही केवल सत् है और अन्य सभी पदार्थ असत् हैं, जिनमें आकाश भी है। ब्रह्म आकाश से उच्च तत्त्व है। बृहद् आरण्यक-उपनिषद् में स्पष्टत: कहा गया है। कई उपनिषदों में कहा गया है कि आकाश की उत्पत्ति अज्ञान के काराण होती है। **......अवायु अनाकाशम्**- वृ० उप०

आइन्सटीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त से इस विचार की तुलना की जा सकती है। उपनिषद् में काल को द्वितीय स्थान दिया गया है। पारमार्थिक दृष्टि से काल को असत् माना गया है। किन्तु कुछ उपनिषदों में इसे विश्व का कारण माना गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया

१. कौ० उप०, I. ६

२. मै० उप०, VI. ४

है–नदीव प्रभवात् काचित् अक्षयात् स्यन्दते यथा तां नद्योभि समायान्ति सोरू: सती न निवर्तते।

ऊपर के श्लोक में काल को नदी के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में माना गया है। काल को अविभाज्य माना गया है किन्तु व्यावहारिक जीवन में इसका विभाग दिन, रात, महीना और वर्ष आदि के रूप में किया जाता है फिर भी इसका अविभक्त रूप बना रहता है। काल को अथाह सागर के समान माना गया है, जिसमें छोटी-छोटी नदियां आकर मिलती रहतो हैं। अत: यह कभी नहीं सूखता है।

ऊपर के वर्णन से व्यावहारिक काल एवं पारमार्थिक काल के अन्तर का भी पता चलता है। बर्गसां के अनुसार काल व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक है किन्तु इसके तार्किक विश्लेषण से तरह-तरह की कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। बर्गसां के अनुसार वास्तविक काल को "ड्यूरी" कहा गया है। ऊपर के काल की तुलना ह्वाइटहेड के काल संबंधी विचार से की जा सकती है। ह्वाइटहेड के अनुसार काल एवं दिक् प्रवाह है, जिसका विश्लेषण दिक् एवं काल में किया जा सकता है।

उपनिषद् जैसे प्रारंभिक साहित्य में काल का इतना विकसित विचार असंभव सा प्रतीत होता है। पाश्चात्य दर्शन में भी इतना विकसित विचार नहीं मिलता है।

ऐतरेय आरण्यक में काल को "प्राण" माना गया है। प्राण का संबंध दिन और रात या काल से बताया गया है। "दिन" को "प्राण" के रूप में और रात को "अपान" के रूप में बताया गया है। दिन के शुरू में "प्राण" का विस्तार होता है, अत: इसे "प्रात:" कहते हैं। दिन के अंत में "प्राण" सिकुड़ता है, अत: उसे "सायम्" कहते हैं, जो "समागात" से निकाला गया है। इससे मात्र इतना ही पता चलता है कि प्राण की तरह ही काल भी मूल तत्त्व है। किन्तु इसका विशेष दार्शनिक अर्थ नहीं है।

बृहद् आरण्यक-उपनिषद् में दिन एवं रात या काल को सभी परिवर्तनों का श्रोत माना गया है। शंकर के अनुसार विपरिणाम हेतु: काल:। किन्तु यह व्यावहारिक काल है।

आगे इसी उपनिषद् में काल की उत्पत्ति "ब्रह्म" से मानी गयी है और काल को ब्रह्म भी माना गया है और इसे मूल तत्त्व भी माना गया है जो सभी पदार्थों का श्रोत है। "काल सभी पदार्थों को महान् आत्माओं में समाहित कर लेता है। वह, जो यह जानता है कि काल किस तत्त्व में विलीन होता है, उसे वेद का ज्ञाता माना जाता है–

यदैतम् अनुपश्यति आत्मानं देवम् अंजस इशानाम् भूत भविष्य, न ततो विजुगुप्सते।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–**काल स्वभावो, नियतिर्, यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।** श्वे॰ ३४-I-२

ऊपर के उद्धरण में कहा गया है कि काल, स्वभाव, नियति, संयोग भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व में से एक को मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाना है। आगे कहा गया है कि काल, भूत, भविष्य एवं वर्तमान के रूप में ब्रह्म से भिन्न तत्त्व है। इससे संकेत मिलता है कि व्यावहारिक काल ब्रह्म से भिन्न है। पारमार्थिक काल को ब्रह्म से भी ऊँचा स्थान दिया है।

मैत्री उपनिषद् के एक श्लोक में दो प्रकार के काल बताये गये हैं। एक काल वह है, जिसका विभाग हो सकता है और वह काल चांद एवं तारे के बाद का है और दूसरे काल, जिसे अकाल कहा जाता है, उसका विभाग नहीं हो सकता और यह काल चाँद और तारे का पूर्ववर्त्ती है। इस वर्णन से पता चलता है कि काल दो प्रकार के हैं– व्यावहारिक काल एवं पारमार्थिक काल।[१]

सुबाल उपनिषद् में कहा गया है कि नारायण ही काल है। इस प्रकार काल को उच्चतम स्थान दिया गया है। नारायण को काल का शृष्टिकर्त्ता और संहारकर्त्ता दोनों ही माना गया है। इससे पता चलता है कि नारायण काल से ऊँचा तत्त्व है। नारायण को दिन, रात, संवत्सर, युग आदि माना गया है।

---

१. मैत्री॰उप॰, VI. ५, कालः पचति भूतानि, सर्वाणि एव महात्मना यस्मिन् तु पच्यते कालो, यस् तम् वेद स वेदवित्।

कैवल्य उपनिषद् में ब्रह्म को ही काल माना गया है।

माण्डूक्य उपनिषद् में काल को सापेक्ष तत्त्व माना गया है। निम्न श्लोक में स्पष्टतः कहा गया है–

चित्त काला हि येऽन्तस्तु द्वय कालश्च वहिः

कल्पिता एव ते सर्वे, विशेषोनान्य हेतुकः।

मानसिक घटनाओं के समय मानसिक काल रहता है और बाह्य घटनाऐं दोनों ही समय में रहती है। एक घटना का मूल्यांकन दूसरी घटनाओं के आधार पर होता है। किन्तु ये सारी घटनाऐं परस्पर सापेक्ष हैं।

निम्न उदाहरण के द्वारा सापेक्ष काल की व्याख्या की गयी है–

एक व्यक्ति दूधवाले के यहां दूध लेने के लिए जाता है। दूधवाले ने अभी दूध नहीं दुहा है। वह दुहने तक उस व्यक्ति को रुकने के लिए कहता है। यहाँ दूध खरीदने वाले का "समय" दूध दुहने पर निर्भर करता है और दूध दुहने वाले का समय दूध खरीदने वाले की प्रतीक्षा पर निर्भर करता है। दोनों ही "समय" घटनाओं के द्वारा सृजित हैं।

काल का विभाग अज्ञान पर निर्भर करता है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। दिक् एवं काल व्यावहारिक सत्ता हैं।

समीक्षा

काल के विश्लेषण से काल एवं शाश्वतता का प्रश्न उठ जाता है। तात्त्विक विश्लेषण के आधार पर काल सातत्य एवं शाश्वतता में अन्तर है क्योंकि शाश्वतता काल से परे है। किन्तु वेद एवं उपनिषद् ब्रह्म या ईश्वर को काल तथा काल से परे शाश्वत भी माना है। इसे दिखाया गया है कि सभी पदार्थों को काल प्रभावित करता है और काल ब्रह्मन् का गतिशील रूप है। दूसरे शब्द में काल, शाश्वतता की सीमा निर्धारित करता है। काल की कल्पना शाश्वत आधार के बिना नहीं की जा सकती है। किन्तु "काल" एवं शाश्वतता के बीच तादात्म्य संबंध नहीं हो सकता है। काल सदा-सर्वदा वर्तमान रह सकता है किन्तु मात्र चरम सत्ता ही शाश्वत

है। शंकर काल एवं शाश्वतता में गुणात्मक भेद मानते हैं।[1] वे कहते हैं कि यद्यपि हम जीवनपर्यन्त सद्कर्म करें किन्तु हम काल से परे शाश्वतता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

शाश्वतता को अविस्तृत काल बिन्दु भी माना गया है, जिसे "अब" कहते हैं। शाश्वत "अब" को ब्रह्मन् माना गया है। इस प्रकार का "अब" काल में नहीं होता है किन्तु काल के द्वारा घिरा रहता है, यथा टापू समुद्र के द्वारा घिरा रहता है। इस शाश्वत "अब" में भूत एवं भविष्य एक साथ वर्तमान रहते हैं। अन्तिम विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि "सभी सत्ताऐं इस शाश्वत "अब" के साथ वर्तमान रहते हैं ...."और" वे जो इस कालिक निरन्तरता से ऊपर उठकर सभी वस्तुओं के समसामयिक अस्तित्व नहीं देख सकते, वे तात्त्विक क्रम को समझने में असमर्थ हैं।[1]

---

१. टाइम एण्डइटर्निटी-ए.के. कुमारस्वामी, पृ० १४०

तृतीय अध्याय

पुराणों एवं महाकाव्यों में दिक् एवं काल की अवधारणा

पुराण का शाब्दिक अर्थ है– जो पूर्व में घटित हुए हों। इस प्रकार पुराण में प्राचीन हिन्दू परम्पराओं, रहन-सहन का विवरण मिलता है। अमरकोश के मुताविक, पुराण का अर्थ है-पंचलक्षण।

पुराण दंतकथाओं, नीति कथाओं एवं कथाओं में निहित दार्शनिक चिन्तन का खजाना है। वस्तुत: पुराण समाज के उस वर्ग की दार्शनिक पिपासा शान्त करने का प्रयत्न था, जिन्हें वर्ण व्यवस्था में वेद के अध्ययन से वंचित किया गया था। पुराणों की भाषा एवं शैली सरल एवं सहज थी, जिससे जनसाधारण भी समझ सकें। शिक्षित समाज ने पुराणों को हिकारत की नजर से ही देखा है और इसको समझने की कोशिश नहीं की। प्राचीन तथ्यों को उद्घाटित करने के लिए पैनी दृष्टि होनी चाहिए।

पुराणों का विभाजन विंभिन्न देवी-देवताओं के विवेचन के आधार पर किया गया है यथा–शिव, विष्णु, अग्नि, सूर्य एवं ब्रह्मा। इन पुराणों का वैज्ञानिक आधार इनकी प्रवृत्तियों एवं इसमें वर्णित विषय पर होना चाहिए।

पुराणों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

१. पुराण, जिनमें कला एवं विज्ञान की कृति यथा-गरुड़, अग्नि एवं नारद।

२. पुराण जिनमें तीर्थ, व्रत आदि यथा-पद्म, स्कन्द एवं भविष्य।

३. पुराण जिसका दो बार संशोधन हो चुका है यथा-ब्रह्म, भागवत ब्रह्माण्ड।

४. सम्प्रदायवादी पुराण यथा-लिंग, वामन, मार्कण्डेय।

५. प्राचीन पुराण जिन्हें प्राय: पुनर्जीवित किया गया है, यथा-वाराह, कूर्म, एवं मत्स्य।

सभी लक्षणों में मन्वन्तर का स्थान सबसे ऊपर है। इससे स्पष्ट होता है कि काल की अवधारणा का पुराणों में शीर्ष स्थान है। दिक् का भी विवरण पुराण में है। इन दो सिद्धान्तों (काल एवं दिक्) में काल को अधिक सूक्ष्म तत्त्व माना जाता है। काल से सूक्ष्म स्वरूप को पहचानना बहुत ही कठिन है। काल के स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया गया, किन्तु यह समझ से परे ही रहा है। किसी भी घटना को समझने के लिए दिक् एवं काल आधार स्वरूप हैं किन्तु दिक् एवं काल के वास्तवकि स्वरूप को समझना कठिन है।

काल की अवधारणा

अमरकोश में काल की परिभाषा इस प्रकार की गयी है-कालो[१] दिष्टोऽनेनापि समयोऽपि। इसमें काल के विभिन्न नाम मात्र हैं। इसे वैज्ञानिक परिभाषा नहीं कह सकते। प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है कि वस्तुत: काल क्या है? साधारणत: काल को दिन-रात, घंटा, मिनट आदि समझा जाता है। किन्तु दिन और रात का विभिन्न माप काल के दुर्ग्राह्य लक्षण को बतलाता है। काल के वास्तविक लक्षण को अंधकार और प्रकाश के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। काल के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए घटनाओं के क्रम को समझना होगा। किन्तु घटनाओं के क्रम भी काल पर आधारित हैं। इस प्रकार काल का प्रश्न अनसुलझा ही रह जाता है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या घटनाओं का क्रम नहीं रहने पर काल का अस्तित्त्व रहेगा अथवा नहीं?

---

१. अमरकोश, १.४.१

इसका समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। बर्गसाँ के अनुसार काल शाश्वत अवधि है।

पुराणकारों ने काल का दो विभाग किया है, यथा अखंड काल एवं खंड काल-काल वास्तव में अखंड, अनन्त, निरपेक्ष एवं असीम है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में इसका विभाजन किया जाता है। पुराणकारों ने अनुभवजन्य काल एवं अनुभवातीत काल में इसका विभाजन किया है।

पुराणों में काल को चरम सत्ता माना है। यह ईश्वर का प्रतीक है। काल ही शृष्टि एवं संहार का कारण है। यह विश्व का आधार है।[१] काल स्वत: अनादि है किन्तु जगत एवं जीवन की शुरुआत काल से होती है।[२] यह अनन्त एवं शाश्वत है किन्तु विश्व की सारी चीजों के विनाश का कारण है।[३] यह काल के दुर्ग्राह्य स्वरूप को दर्शाता है। काल वह चरम शक्ति है जो विश्व का नियामक एवं नियंत्रक है।[४]

विष्णु पुराण में काल की विशद व्याख्या की गयी है। काल न तो उत्पन्न होता है और न ही इसका विनाश होता है।[५] काल विश्व का शृष्टि कर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है (विष्णु पुराण)। काल ही त्रिदेव है। प्रलय के समय प्रकृति एवं पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित करना इसका काम है।[६] दासगुप्ता के शब्दों में "इस प्रकार काल के सत्तामूलक समन्वयात्मक क्रिया-कलाप एवं सत्तामूलक विश्लेषणात्मक क्रिया-कलाप की चर्चा है।[७] भिक्षु का कहना है कि विश्व की शृष्टि ब्रह्म से होती है। ब्रह्म निर्विकार है। अत: उससे सीधी सृष्टि नहीं हो सकती। ब्रह्म को आदि कारण माना जा सकता है। जिससे काल, प्रधान और पुरुष उत्पन्न होते हैं। उसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता है। प्रलय के समय

१. भागवत, I .६.४, वायु-३२

२. भागवत, III. ५.६

३. वही, III. २९.४५

४. वही, X , ५१, १९

५. विष्णु, I. २.१५ ....कालस्तथा परम्।

६. वही, I . २.२४ - रूपान्तरं तद्दविज काल संज्ञानम्।

७. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ४९७

"अव्यक्त" साम्यावस्था में रहता है। ईश्वर की इच्छा से पुरुष एवं प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है और विकास का क्रम शुरू होता है। वह प्रेरक शक्ति काल है।[१] परमात्मन् एवं काल के बीच भेद एवं अभेद का सम्बन्ध है। काल को प्रकृति एवं पुरुष के बीच में सम्बन्ध का निमित्त कारण समझा जाता है। काल कर्म से उच्च कारण है। कर्म की उत्पत्ति काल से होती है- कर्मादिनम् अपि काल-जन्यत्वात्।

काल अनादि है किन्तु इसका प्रमुख कार्य उत्पन्न करना है। इसकी पुष्टि ईश्वरगीत भाष्य के निम्न अंश से होती है-"नतु साक्षाद् एवं ब्रह्मण: कूर्म एवं कालस्य प्रकृति पुरुष संयोगरव्यकारयोन् मुखत्वम् परमेश्वरेच्छा-यैव भवति-" एस॰ एन॰ दासगुप्त।

मार्कण्डेय पुराण में काल को दिष्ट एवं दैव दोनों ही माना गया है।[२]

मत्स्य पुराण में काल, दैव एवं पुरुषकार की वरीयता की समीक्षा की गयी है। इन तीनों को परस्परपूरक सिद्धान्त माना गया है। किन्तु तीनों में पुरुषकार को सर्वोपरि माना गया है- सवमेव कर्म दैवरव्यम् विद्धि देहन्तरायितं तस्मात्-पुरुषमेवेह श्रेष्ठमहु मनीषिणो ।[३]

कई पुराणों में काल को ध्रुव माना गया है। एक प्रकार का श्लोक कुछ संशोधन के साथ सभी पुराणों में मिलता है- "ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोक प्रकालन:।[४]

संस्कृत के दो महाकाव्य–रामायण तथा महाभारत में काल के विभिन्न पदों और प्रकारों का विवेचन किया गया है। वे निम्न हैं-

१. दिष्ट वह काल है जो व्यक्ति विशेष के द्वारा निर्धारित होता है। यह काल व्यक्ति विशेष के इच्छानुसार क्रियाशील होता है।[५] कभी-कभी दिष्टम् एवं दैवम् को समान समझा जाता है।[६]

---

१. कूर्म, II. ३ (कलकत्ता संस्करण) = अव्यक्तादभवन्काल: प्रधानं पुरुष: पर:। तेभ्य: सर्वमिदं जातं तस्माद् ब्रह्ममयं जगत।।

२. मार्कण्डेय, पृ॰ ५९३-५९४ (बम्बई संस्करण)

३. मत्स्य पु॰, पृ॰ ६३५

४. अग्नि, १८.३६

५. रामायण, २.१०३; ८, महाभारत, ५.१७.१०-दिष्टागति:

६. महाभारत, ५.७७.८ एवं १०

२. वह काल जो अदृश्य शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है, उसे दैवम् कहते हैं। वैसे काल की गति ईश्वर के निर्देश से नियंत्रित होती है। दैव का मुकाबला मनुष्य नहीं कर सकता। निम्न उदाहरण से इसकी व्याख्या होती है। दैव के प्रभाव से मुकाबला करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तैयार रहना चाहिए। इस पृथ्वी पर कृष्ण अर्जुन की मदद के लिए अवतरित हुए थे। कृष्ण ने अर्जुन को दैवीशक्ति दी। इस प्रकार अर्जुन अजेय योद्धा बन गये। लेकिन जैसे ही कृष्ण परलोक चले गये, समय-प्रवाह बदल गया। अर्जुन की शक्ति क्षीण हो गयी। वह कोल-भील के हाथों पराजित हुआ। उनकी औरतों को कोल भील उठाकर ले गये। अर्जुन जैसे अजेय योद्धा को यह अपमान सहना पड़ा। डा॰ एच॰ जिम्मर के शब्दों में-"काल ने उस रहस्यमय धारा को परिवर्तित कर दिया जिसके जल से सभी चीजें उत्पन्न होती हैं और अबाध्य गति से बहती रहती है।[१] दैव और कर्म के बीच निकटतम सम्बन्ध है। कर्म काल से उदभूत है। अत: काल की क्रियाशीलता में सहायक है। काल सभी चीजों का अन्तर्भूत एवं बाह्य कारण है। भर्तृहरि ने काल को अलौकिक शक्ति माना है-मुग्धा पश्य: दैवमेव हि परम वृद्धौ क्षये कारणम्।

३. काल को हठ भी माना गया है। हठ एक शक्ति है, नियति और आकस्मिक घटना है।[२] मनुष्य का जीवन अंशत: हठ से संचालित होता है। इस प्रकार ईश्वर की शक्ति की उपेक्षा करता है। हठ की अवधारणा ईश्वर के अस्तित्त्व का निषेध करता है।

४. काल को भवितव्य भी कहते हैं। भवितव्य वह है जो घटनाओं को संचालित करता है। रामायण में कहा गया है-दैवम् एव परम मन्ये।[३] उसे उच्चतम शक्ति के रूप में माना गया है। दैव के प्रभुत्व से ऊपर कुछ नहीं है- न हि अदैवकृतम् किंचित।[४] दैव सबसे ऊँचा

---

१. डॉ॰ एच. जिम्मर, फिलॉसफीज ऑफ इंडिया

२. महाभारत, ३.३२. १२ एवं २१

३. रामायण, १.५८.२३

४. महाभारत, २.५६.१७, २.५७.४

है और उसे नहीं जीता जा सकता है। महाभारत में गौतमी एवं शिकारी के बीच सांप को मारने पर वार्तालाप हुआ है। मृत्यु सदेह सामने आती है और कहती है कि न मैं ही और न सांप ही बच्चे की मुत्यु का कारण है क्यों कि जो कुछ भी होता है, वह काल के द्वारा संचालित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि काल मात्र क्रियाकारी शक्ति ही नहीं है बल्कि यह विश्व का आदि कारण है। काल, कर्म के द्वारा संचालित होता है। काल और कर्म के प्रवाह के विपरीत घटित होता है। रामायण में दैवम् को भवितव्यम् से ऊँचा माना गया है। काल को मनुष्य की सफलता का कारण माना गया है।[1]

५. मनुष्य के द्वारा कर्त्तव्य पालन के लिए जो काल निर्धारित किया जाता है उसे विहित कहते हैं।

६. भागधेय वह काल है जो सुख-दुःख का कारण है। इस काल का विशेष विवेचन अध्याय २२० महाभारत में मिलता है (महाभारत-भंडारकर संस्करण)। काल सभी चीजों को अपने में समाहित कर लेता है। किन्तु अनुभवजन्य काल का विभाग दिन-रात, घंटा, क्षण आदि में होता है। ब्रह्मरूपी काल की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। आदि पर्व में भी काल के इस पक्ष की चर्चा है।

७. इन दो महाकाव्यों में पुरुषकार रूपी काल की भर्त्सना की गयी है। किन्तु वीरता दैव को नहीं मानती है। लक्ष्मण, दैव को नहीं मानता। वे कहते हैं-

वीरा संभावित्मानो न दैवम् पर्युपासते।

दैवम् पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।।

महाभारत के मौशलपर्व में कहा गया है-पुरुषं हि परम् मन्ये दैवम् निश्चित्य मुह्यते।

---

१. रामायण, ६.११३.२४-२६

८. काल को कृतान्त भी माना गया है। "कृतान्त" ही मृत्यु का मालिक है या मृत्यु ही है।[१]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि बल, स्थान और काल में कौन बड़ा है तो बल तीनों में बड़ा है क्योंकि अनुपयुक्त स्थान एवं विपरीत समय के रहते हुए भी जिसके पास बल है, वह विजयी होता है। यहाँ पुरुषकार को सर्वोपरि माना गया है। कुछ लोग कहते हैं कि "काल" या समय ही बलवान है क्योंकि दिन में कौआ, उल्लू को मारता है और रात में उल्लू, कौआ को। किन्तु कौटिल्य मानता है कि दोनों एक-दूसरे का सहायक है। इस प्रकार काल को मानव की सफलता का कारण माना है।[२]

योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और उत्पत्ति प्रकरण में काल की विशद व्याख्या की गयी है। इन प्रकरणों में काल के विभिन्न पक्ष यथा, दैव, कृतान्त, भवितव्य एवं पुरुषकार का विवेचन हुआ है।[३]

काल को विश्व का सृष्टिकर्त्ता, पालन कर्त्ता और संहार कर्त्ता माना गया है। यह सर्वव्याप्त तथा शाश्वत है किन्तु वर्ष, युग एवं कल्प के द्वारा आंशिक रूप से अपने को व्यक्त करता है।[४] काल सर्वग्राही है और सभी चीजों को अपने में समाहित कर लेता है यथा समुद्र में उसका बुलबुला।[५] काल में परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं। काल अविभाज्य है फिर भी इसका विभाजन होता है, यह अगोचर है फिर भी इसका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है। यह अनन्त है फिर भी सभी चीजों का अन्त करता है। यहाँ निरपेक्ष एवं सापेक्षकाल का अन्तर बताया गया है। यह काल के दुर्ग्राह्य स्वभाव को बतलाता है।

एक पूरे सर्ग में काल को कृतान्त बताया गया है। काल को विश्व

---

१. रामायण, २.२३ १७-१८

२. कौटिल्य का अर्थशास्त्र-शाम शास्त्री, पृ॰ ३६८

३. योगवासिष्ठ, १.२५, १,५,६,११.४,११,११.५

४. वही, १.२३.४

५. वही, १.२३.७

का अभिकल्पक और संहारकर्त्ता बतलाया गया है। नियति की सहायता से यह विश्व को नियंत्रित एवं निर्देशित करता है।[१] नियति को कृतान्त की पत्नी माना जाता है। नियति अवश्यभावी रूप है। चण्डी, जो कृतान्त की प्रेमिका है, के माध्यम से विश्व का विनाश करता है।[२] काल, एक कलाकार के रूप में, विश्व के रंगमंच पर आता है, कुछ समय तक अपना पार्ट अदा करता है और फिर काल विश्वात्मा में विलीन हो जाता है। फिर थोड़े समय के बाद प्रकट होता है और बच्चों की तरह विश्वरूपी मिट्टी का घर बनाता है।[३] इस प्रकार सृष्टि और संहार काल के लिए खेल जैसा है। काल को व्यक्ति माना गया है।

मुमुक्षव्यवहार प्रकरण में काल को पुरुषकार माना है, धार्मिक ग्रंथ एवं धर्माचार्यों के आदेशनुसार जो कार्य किये जाते हैं, वे ही पुरुषकार हैं। अन्य मानवीय प्रयत्लों को कार्यों का पागल का कार्य कहा है।[४] कुछ सर्गों में दैव और पुरुषकार को एक ही माना है। दैव पूर्वजन्म में किये गये कार्य हैं, अत: वर्तमान जन्म के प्रयत्नों से उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है।[६] पुरुषकार से साधारण व्यक्ति भी ऊँचाई के पद पर पहुँच सकता है।[७] यह निश्चित ही फल देता है। नियति या भवितव्यता पुरुषकार को नियंत्रित करता है। अन्तत: पुरुषकार के लिए सहायक है क्योंकि यह ब्रह्म का एक अंश है।[८] आसक्ति के साथ पूर्व जन्म में किए हुए कार्य वर्तमान जीवन में कर्म हैं। वैसे कर्म की शक्ति वर्तमान जीवन के प्रयत्न से समाप्त हो जाती है। इस प्रकार पुरुषकार कर्म से भी अधिक शक्तिशाली है। वात्स्यायन अपने कामसूत्र में कहते हैं कि पुरुषकार

---

१. योगवाशिष्ठ I. २५.३१

२. वही, I. २४.५

३. वही, I. २५.३२

४. वही, II. ४.११

५. वही, II. ६.१-३

६. वही, II. ६.११९

७. वही, II. ६.११

८. वही, II. ९६

जीवन में सफलता प्राप्ति का प्रमुख साधन है-पुरुषकार पूर्वकत्वात् सर्व प्रवृत्ति नाम् उपाय: प्रत्यय:।[१] महाकाव्य एवं पुराण योगवासिष्ठ की इस उक्ति का समर्थन करते हैं।

कामसूत्र में ही दिक् एवं काल को सापेक्ष बताया गया है। इसमें कहा गया है दिक् एवं काल का अस्तित्व मानसिक प्रत्यय पर निर्भर है।[२] परिवर्तनशील चेतना के कारण क्षण कल्प के समान लगता है और कल्प क्षण के समान।[३] काल एवं दिक् मानसिक वृत्तियों पर निर्भर करते हैं। परित्यक्त प्रेमिका के लिए एक दिन ही वर्ष के समान लगता है।[४]

दिक् एवं काल का अस्तित्व मानसिक चेतना पर निर्भर करता है। आधुनिक भौतिकशास्त्र इस विचार का प्रतिपादन करता है।

गीता में कृष्ण कहते हैं कि वह शाश्वत काल हैं और विश्व के पालनहार हैं। वही इसके संहारकर्त्ता हैं। वह संहार करने के लिए ही अवतरित होते हैं।[५] काल अविनाशी "योग" का भी नाश करता है। इसी प्रकार काल के दोनों ही पक्षों को दर्शाता है।

स्वामी मध्वातीर्थ ने अपनी पुस्तक-दि कन्सेप्ट ऑफ टाइम में दिक् एवं काल की सापेक्षता को दिखाने का प्रयास किया है। निम्न उदाहरण के द्वारा सापेक्षता के सिद्धान्त की व्याख्या करता है।

महाभारत युद्ध के समय अर्जुन ने कृष्ण से आग्रह किया कि उसके रथ को ऐसे स्थल पर रखा जाय, जहाँ से वह दोनों ओर की सेना को देख सके। अर्जुन ने देखा कि दोनों की तरफ उनके मित्र एवं सम्बन्धी मारे जायेंगे। यह देखकर अर्जुन काँपने लगा और युद्ध करने से इन्कार कर दिया।[६] कृष्ण के भी मित्र और संबंधी थे पर उनकी दृष्टि भिन्न थी। उनकी दृष्टि में काल का कोई महत्व नहीं था। वे चाहते थे कि अर्जुन

---

१. कामसूत्र, II. ३०

२. वही, III. ११०.९ देश कालाभिधानेन राम संकल्प एव हि।

३. योग० III. २०.२९

४. वही, कान्ता विरहिणामेकं वासरं वत्सरायते।

५. गीता, X. ३२-३३

६. गीता, I. २८-३२

यह समझे कि "आत्मा" अजन्मा और अमर है। कृष्ण ने पर्यवेक्षण के स्वभाव को बदलने का प्रयास किया है। काल पर्यवेक्षण के परिवर्तन के साथ ही परिर्वतित हो जाता है। जैसे ही पर्यवेक्षक बदलता है काल भी बदल जाता है। कृष्ण ने अर्जुन को नई दृष्टि दी। इस दृष्टि से अर्जुन ने कहा- नान्तं न मध्यमं न पुनस्तवादिम्।

मनुस्मृति में काल को दैव माना गया है। दैव को पूर्वकृत कहा है।[१] प्रत्येक मनुष्य को ऐसे काल द्वारा प्रदत्त फल को भोगना पड़ता है। काल के "विहित" स्वरूप की भी चर्चा इस ग्रंथ में है।[२]

विष्णुस्मृति[३] में काल विवेचन हुआ है। काल का प्रभाव परमेश्वर पर भी है, जो विश्व के सृष्टिकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता हैं। ईश्वर का भी काल संहार करता है। पुराण और महाकाव्य में काल को चरम सत्ता माना गया है। किन्तु चरम सत्ता के रूप में वह (काल) ईश्वर का ही प्रतिरूप है। इस ग्रंथ में काल को ईश्वर को कवलित करने वाला बताया गया है। इससे संकेत मिलता है कि काल ईश्वर से शक्तिशाली है।

कालविभाग

पुराण एवं महाकाव्य के रचनाकारों ने काल का विभाग और उपविभाग किया है। काल का विभाग युग, मन्वन्तर एवं कल्प आदि में किया गया है।

पुराणों के आधार पर काल का निम्न विभाग है[४]–

३ परमाणु -१ अणु
३ त्रृसरेणु-१ वेध
३ वेध- १ लव
३ लव-१ निमेष

---

१. मनुस्मृति, VII. १६६ एवं X १.४७ क्षीणस्य चैव कर्मसो दैवात्पूर्वकृतेन वा।

२. वही, VII. १६४ - स्वयंकृतस्च कार्यार्थतमकाले काल एव वा।

३. विष्णुस्मृति, अध्याय - XX

४. भागवत, III. ५.१५, वायु० -५०.१७९-१८२, मत्स्य०- पृ० ३५८-६०

३ निमेष-१ क्षण

५ क्षण-१ काष्ठा

१५ काष्ठा-१ लघु

१५ लघु-१ नाड़िक

२ नाड़िक-१ मुहुर्त

६ या ७ नाड़िक- १ प्रहर या याम

४ याम -१ दिन या रात

१५ दिन और रात- १ पक्ष

२ पक्ष-१ मास या पित के १ दिन और रात

२ मास- १ ऋतु

६ मास-१ अयनम्

२ अयनम् -१ वर्ष

१ ब्रह्मा के दिन - १ मनु का पक्ष

१ ब्रह्मा की रात - १ प्रलय का पक्ष

१ युग - ५ वर्ष

गणना सूर्य पर आधारित है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में काल के निम्न विभाग किये गये हैं, यथा: त्रुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़िक, मुहूर्त, पूर्वाह्न, अपराह्न, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, तथा युग।[1] कौटिल्य ने मन्वन्तर तथा कल्प की चर्चा नहीं की है।[2]

मनुस्मृति के अनुसार काल का निम्नलिखित विभाग है-

१४ निमेष- १ काष्ठा

३० काष्ठा - १ कला

३० कला- १ मुहुर्त

३० मुहुर्त - १ दिन और रात

---

१. अर्थशास्त्र, पृ० १०७

२. वही, पृ० १०९

वायु पुराण का काल विभाग मनुस्मृति के समान है केवल एक अन्तर है कि १५ निमेष १ काष्ठा है।

युग की गणना

युग शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद में आया है। "युग" का प्रयोग लम्बी अवधि के लिए किया गया है। देवानाम् प्रथमे युगे।[1] अथर्ववेद में युग की विशद व्याख्या की गयी है। अथर्ववेद में कहा गया है- "मैं तुम्हें सौ, दस हजार वर्ष, दो, तीन या चार युग देता हूँ।" इस प्रकार युग की अवधि १० हजार वर्ष से कम नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथों में चारों युगों का विवेचन किया गया है। षड्विंश ब्राह्मण में चार युग, पुस्य, द्वापर, खर्व और कृत की चर्चा है। कलि का नाम वैदिक साहित्य में आया है किन्तु, युग का स्पष्ट चित्र मनुस्मृति में मिलता है। जहाँ चारो युग के साथ मन्वन्तर एवं कल्प की भी चर्चा है।[3]

महाभारत में चारों युग की चर्चा है किन्तु मन्वन्तर एवं कल्प का स्पष्ट चित्र नहीं है।[4] पुराण एवं महाकाव्य में युग की अवधि समान है। मनुस्मृति एवं महाभारत में कलि, द्वापर, त्रेता एवं कृत को क्रमश: १०००, २०००, ३००० एवं ४००० वर्ष की अवधि दी गयी है। मनु एवं व्यास ने इसमें २००० वर्ष जोड़ दिया है और दो युगों के बीच का अन्तराल माना है और उस अन्तराल को संध्या और संध्यांश कहा है। इस प्रकार १० हजार वर्ष को बढ़ाकर १२ हजार वर्ष कर दिया गया है।

१२,००० वर्ष का विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है :-

१. कृत युग - ४८०० वर्ष संध्या एवं संध्यांश को लेकर
२. त्रेता युग - ३६०० वर्ष " " "
३. द्वापर युग - २४०० वर्ष " " "
४. कलियुग - १२०० वर्ष " " "

---

१. ऋग्वेद, X. ७२-३
२. अर्थववेद, VII. १/१ २.२१
३. मनुस्मृति, I. ६९-७१
४. महाभारत, शान्तिपर्व

पुराणकारों ने मानवीय वर्ष को ईश्वरीय वर्ष में परिवर्तित करने का प्रयास किया है। एक ईश्वरीय वर्ष ३६० मानवीय वर्ष के बराबर होता है। मनु ने कहा है- "१२०० वर्ष की अवधि ईश्वर के १ दिन के बराबर है।" जनसाधारण में विश्वास पैदा करने के लिए यह तरीका अपनाया गया है क्योंकि जनसाधारण यही समझते हैं कि वे कलियुग में निवास कर रहे हैं। कालियुग के १२००×३६०×१२,००० = ५१८४०००००० मानवीय वर्ष में बदला गया। इस गणना का प्रभाव मन्वन्तर एवं कल्प की गणना पर भी पड़ता है। मनु एवं व्यास की गणना अथर्ववेद की गणना के समान है।

युग के लक्षण

युग का सम्बन्ध धर्म के साथ है। युगधर्म की ग्लानि होती है तो विष्णु का अवतार होता है, धर्म के संतुलन को ठीक करने के लिए वायु पुराण में इसकी चर्चा है।[१] इस पुराण में कहा है :

युगधर्मप्रवृत्ते काले च स्थिते प्रभुः
कर्तुम् धर्मव्यवस्थानां जायते मनुस्वीह।

(वायुपुराण-९७.६५-६६)

धर्म की ग्लानि त्रेतायुग से कलियुग तक धीरे-धीरे होती है। कलियुग में धर्म अपने अन्तिम चरण पर होता है।

युग की अवधारणा सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। युग का निर्धारण विशेष स्थान के आधार पर होता है। जब कि एक स्थान विशेष युग में होता है तो उसी समय दूसरे स्थान में दूसरा युग रहता है। कालचक्र के अनुसार प्रत्येक स्थान को सभी युगों से पार करना पड़ता है। इस प्रकार युग की सापेक्षता प्रमाणित होती है।

मन्वन्तर

पुराण के पांच लक्षणों में से एक मन्वन्तर है। प्रत्येक मन्वन्तर का एक स्वामी होता है। जिसे मनु कहते हैं। वे चौदह हैं। वैवस्वत्त मन्वन्तर का स्वामी वैवस्वत्त है।

अन्य मन्वन्तरों के नाम निम्न हैं :–

१. स्वायम्भुव	८. सावर्नि
२. स्वारोयिष	९. दक्ष-सावर्नि
३. औत्तम	१०. ब्रह्म-सावर्नि
४. चरिस्नव चारैवत	११. धर्म-सावर्नि
५. तामस	१२. रुद्र-सावर्नि
६. चाक्षुस	१३. रौच्य
७. वैवस्वत्त	१४. भौत्य

छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और हमलोग सातवें मन्वन्तर में हैं, जिसे वैवस्वत कहते हैं। (ब्रह्माण्ड॰ III. १.३-११६, मत्स्य॰ - १.१३९).

मन्वन्तर की अवधि

७१ युगों का एक मन्वन्तर होता है। काल के ७१ पद होते हैं। जब यह एक पद आगे जाता है तो एक युग बीत जाता है। यह सभी मन्वन्तरों को ७१ पदों में माप लेता है। एक मन्वन्तर में ७१×१२,००० ईश्वरीय वर्ष होते हैं।

इस तरह मन्वन्तर में ८, ५२, ००० ईश्वरीय वर्ष होते हैं। भगवद्गीता में मन्वन्तर चार माना गया है। महाभारत में भी मन्वन्तर की चर्चा है पर इसकी संख्या चार है। मनुस्मृति में मन्वन्तर की संख्या असंख्य बतलायी गयी है–मन्वन्तरानि असंख्यानि। पुराण में मन्वन्तर की संख्या १४ बतलायी गयी है। मनुस्मृति में असंख्यानि का अर्थ सृष्टि एवं प्रलय का असंख्य क्रम है। ऐसा प्रतीत होता है मन्वन्तर एवं कल्प की कल्पना महाकाव्य के बाद का विकास है।

कल्प एवं प्रलय

सूत के अनुसार पंच लक्षण के बाद कल्प की चर्चा वायु पुराण में है। ब्रह्मा ने ही काल की अवधि का कल्प नामकरण किया है:

कल्पयामास वे ब्रह्मा तस्मात् कल्पो निरुच्यते। हजार चतुर्युगों (मन्वन्तर के साथ) को कल्प के देवता महादेव ने विश्व की सृष्टि की। काल के माप के लिए कल्प माध्यम है।

मनु और व्यास के अनुसार चार युग ईश्वर का एक युग होता है और हजार युग का एक कल्प होता है। कल्प की अवधि १२,०००,००० वर्ष है। कल्प के अन्त में विश्व का नाश प्रलय के कारण हो जाता है। प्रथम गणना मानवीय वर्ष पर और द्वितीय गणना ईश्वरीय वर्ष के मुताविक है। पुराण के अनुसार १४ मन्वन्तर का एक कल्प होता है, जिसमें ४,३२,००००००० वर्ष होता है– निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनु-वर्तते। यावद्दिनं भगवतो मनुनभूंजस्चतुर्दश–भागवत० III. ११.२३।

वायुपुराण में कहीं कल्प की संख्या ३३ तो कहीं १० वतलायी गयी है। भूत एवं भविष्यत् कल्प की गणना सम्भव नहीं है, उनकी संख्या वाण के समान असंख्य है।[१] प्रमुख प्रलय है-नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय।[२] आत्यंतिक प्रलय की अवस्था में योगी पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर परमेश्वर का पद प्राप्त कर लेता है। वह जन्म मरण से छुटकारा पा लेता है।

नित्य प्रलय विश्व के सतत परिवर्तन को बताता है। प्रत्येक वस्तु में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है।

नैमित्तिक प्रलय प्रत्येक कल्प के अन्त में होता है, जब ब्रह्मा निद्रा की अवस्था में रहते हैं।

प्राकृत प्रलय की अवस्था में पृथ्वी जल में, जल अग्निमें, आदि और अन्त में सभी अव्यक्तता में विलीन हो जाते हैं।

यह विश्व अनादि एवं अनन्त है। कल्प एवं प्रलय एक दूसरे का अनुसरण करता है।[३] मैडम ब्लाभेट्स्की कहती हैं–सत्य यह है कि न कभी पहला कल्प हुआ और न कभी अन्तिम कल्प होगा।

---

१. वायुपुराण, अध्याय - XXI

२. वही - VII. २७. तत्र कल्पान् दशस्थित्व सत्यं गच्छन्ते वै पुनः।

३. योग० ४.७.८०

समीक्षा

कल्प के विश्लेषण से हम पाते हैं कि पुराण तथा पुराणोत्तर साहित्य साहित्य काल सम्बन्धी विचार नैतिक प्रश्नों से जुड़ गया है। स्वतंत्रता एवं नियति का प्रश्न उठ गया है। नैतिक एवं धार्मिक कर्मों में काल सबसे प्रमुख बन जाता है। यह निश्चितप्राय है कि कुछ भारतीय विचारकों ने काल को सृष्टि का आधार बनाया है।

काल को ईश्वर का प्रतिरूप माना जाता है। यदि "काल" में इच्छाशक्ति पैदा हो तो ईश्वर के समान बन सकता है। १६वीं शताब्दी में महान् तर्कशास्त्री रघुनाथ शिरोमणि ने काल को ईश्वर के समान माना। वस्तुत: उन्होंने सदियों से प्रचलित विचार की पुनरावृत्ति की, जो विचार नैतिक सिद्धान्तों को प्रभावित कर रहा था।

ऊपर के विश्लेषण के आधार पर काल को सृष्टिकर्त्ता एवं संहार-कर्त्ता माना गया है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे शक्तिशाली काल हैं और वे सृष्टि का संहार करते हैं। (अध्याय-२, गीता) अब नैतिक प्रश्न उठता है क्या पूर्व कर्म द्वारा हमारा वर्तमान जीवन संचालित एवं नियंत्रित होता है या हम अपने जीवन को इच्छानुसार संचालित करने के लिए स्वतंत्र हैं? यह स्वतंत्रता एवं नियति का प्रश्न है। मस्करि गोशाल दैव या भाग्यवाद में स्वतंत्रता का स्थान नहीं मानता है। इन्हें अक्रियावादी कहा जाता है। वे कर्म की शक्ति का निषेध करते हैं। उनके अनुसार सुख-दुःख को समान रूप से स्वीकर करना है क्योंकि इससे छुटकारा नहीं मिल सकता है। यह भाग्यवाद का एक ही रूप है। इससे नैतिक कर्म एवं धार्मिक कर्म की महत्ता समाप्त हो जाती है।

बुद्ध ने इस सिद्धान्त के विरोध में अपनी आवाज उठायी। महाभारत में ऐसे प्रसंग आये हैं, जहाँ मुनष्य के सतत् प्रयत्न के बावजूद विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलता है। मनुष्य काल का दास बन जाता है। बुद्धिमानी यही होगी कि नियति के सामने शिर झुका लें। रामायण में राम के मुँह से भी ऐसा कहलाया गया है। सभी युगों में इस प्रकार के प्रसंग आये हैं, जहाँ दिखलाया गया है कि मनुष्य के प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं होता है।

युद्ध में जो देश पराजित होता है, वह यह कहकर संतोष कर लेता है कि दैव के प्रभाव को कोई मिटा नहीं सकता। ग्रीक मिथक में शक्तिशालिनी देवी "नेमेसिस" मानी जाती है। नियति के प्रभाव को इस्लाम धर्म में भी स्वीकार किया गया है, जिसमें जिन्दगी के तकलीफ से छुटकारा पाना असम्भव माना गया है। उपनिषदों में मनुष्य के सुख-दु:ख के लिए ईश्वर को जिम्मेवार बनाया गया। कृष्ण ने गीता में कहा है कि ईश्वर मनुष्य के जीवन को नियन्त्रित करते हैं और मशीन की तरह संचालित करते हैं– ईश्वर: सर्वभूतानाम्.........................। शंकर ने मानवीय स्वतंत्रता एवं नियति को प्रासंगिक कहा है। पुरुषकार की महत्ता भी बतायी गयी है।

स्वर्ण युग कुछ समय के लिए ही आता है। "सत्यमेव जयते" कुछ ही प्रसंग में समीचीन माना जाता है। मुसोलिनी और हिटलर का पराजय तथा स्टालिन की विजय आकस्मिक है। यह न्याय की विजय नहीं कही जा सकती। कृष्ण और पाण्डव का दु:खद अन्त इसका उदाहरण है। स्वतंत्रता एवं नियति का द्वंद्व अनन्त काल से चल रहा है और किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं हो सका है।

पुरुषकार एवं दृढ़ संकल्प शक्ति से मनुष्य ने विज्ञान में चमत्कारिक फल प्राप्त किया है। अपनी मेधाशक्ति एवं संकल्प शक्ति से प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास किया है। साधुजन का विश्वास है कि अन्याय पर न्याय की विजय अन्तत: सम्भव है। -सोएव साधु कर्यन्ति-उपनिषद्। भूत की विफलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचना विश्व में न्याय व्यवस्था है।

व्यक्ति विशेष विरोधी वातावरण में असमर्थ अनुभव कर सकता है किन्तु राष्ट्र या राज्य उस वातावरण को बदल सकता है या व्यक्तियों का समूह भी यह काम कर सकता है। हमारे पूर्वजों के लिये जो सुख-सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं, वे सुविधाऐं आज विज्ञान की सफलता के कारण उपलब्ध हैं। विज्ञान ने मानव को अपूर्व शक्ति प्रदान की है। यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह इनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। भारतीय नीतिशास्त्र ने वैयक्तिक नैतिक उन्नयन पर ध्यान दिया है। विज्ञान एवं नैतिक आचरण में संतुलन बनाने से ही मानव का कल्याण सम्भव है।

नियतिवाद के समर्थक भी स्वतंत्र इच्छा के सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं।

पुराण एवं पुराणोत्तर साहित्य के काल के विभाग को धर्म के साथ जोड़ दिया है। साथ ही यह भी दिखलाया है कि कलियुग में धर्म अन्तिम चरण पर होता है। धर्म की रक्षा के लिए अवतार की भी कल्पना की गयी है।

दिक् की अवधारणा

दिक् काल का ही एक पक्ष है यद्यपि दिक् स्वतः ज्ञेय नहीं है। यह एक रहस्यात्मक तत्त्व है, इसमें परस्पर विरोधी गुण हैं यथा–ससीम एवं असीम, औपाधिक एवं निरौपाधिक, सान्त एवं अनन्त। इस प्रकार यह विरोधी गुणों का समन्वय है। सूक्ष्म दिक् निरपेक्ष तत्त्व है। निरपेक्ष दिक् सीमाहीन है। दिक् सर्वव्यापी है और शून्य में भी व्याप्त है। यह सर्वग्राह्य थैला है। ईश्वर स्वयं निरपेक्ष दिक् है। सूक्ष्म दिक् से स्थूल दिक् की उत्पत्ति होती है। लोक की उत्पत्ति भी दिक् से होती है। स्थूल दिक् विभाज्य एवं औपाधिक है। आकाश का शाब्दिक अर्थ है, जो अवकाश या स्थान दे। सर्वप्रथम, महत्, अपने को विभक्त कर, सम्पूर्ण दिक् में व्याप्त होता है। उसके बाद, निम्न लोकों में पदार्थ स्थूल से स्थूलतर बनता जाता है। श्री के० एन० ऐयर ने अपनी पुस्तक "दि पुराण" में कहा है- "ब्रह्मा वृह् धातु से बना है, जिसका अर्थ विस्तार होता है। विष्णु विष् धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ व्यापक होता है।

ब्रह्मा के बाद सृष्टिकर्त्ता पदार्थ के साथ अपना विस्तार कर लेता है। विष्णु इन पदार्थों को जोड़ने वाला बनकर फैल जाता है और इस प्रकार पालनकर्त्ता है। त्रिमूर्ति का तीसरा रूप संहार कर्त्ता का है।

पुराण में तीन लोकों की चर्चा है क्योंकि आधार कारण के तीन रूप हैं। सात लोक इन्हीं तीन आधार लोकों का व्यक्त रूप है।

लोक

इन लोकों के विशद वर्णन वायु पुराण, शिव पुराण एवं कूर्म पुराण आदि में हैं। इनके अनुसार सात लोक तीन आधार लोकों से उत्पन्न हुआ

है। ब्रह्म, बैकुंठ एवं कैलास ये लोक अलग-अलग विभाजित नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे में मिले हुए हैं और एक दूसरे से बाहर तक विस्तारित हैं। लोकों का स्तर इस पर निर्भर करता है कि उनमें व्याप्त पदार्थ कितना स्थूल है। पदार्थ जितना स्थूल होता है, लोक उतना ही निम्न होगा। निम्न काव्यांश से लोक के स्वरूप का स्पष्ट चित्र मिलता है :-

ध्रुवाद्ध्रुवं मर्हलोक यत्रते कल्पवासिन:। द्वे कोटि तु जनोलोको यत्रते कल्प वासिन:। द्वै कोटितु जनोलोको यत्रते ब्रह्मन: वासिन: सुनन्दनाद्या: प्रथिता स्थिता मैत्रेयामलयेतस: चतुर्गुणोत्तरे चोरध्वम् जनलोकात्तप: स्थितम्। वैराज यत्रते देवा: स्थितादाह विवर्जिता:। षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते। (विष्णुपुराण, II. ७.१२)

ऊपर के श्लोक में, तीन उच्च लोकों के विस्तार को बतलाया है। ध्रुव से एक करोड़ योजन ऊपर महर्लोक है। यहाँ के रहनेवाले एक कल्प तक जीवित रहते हैं। इससे दुगुनी दूरी पर जनलोक है, जहाँ ब्रह्मा के पुत्र सनन्दन निवास करते हैं। जनलोक से चौगुनी दूरी पर तपोलोक है, जिसमें वैराजस् का निवास है, जिसे अग्नि भी समाप्त नहीं कर सकती। छ: गुनी दूरी पर, सत्य लोक या ब्रह्म लोक है, इस लोक में निवास करने वाले अमर होते हैं।" ब्रह्माण्डपुराण एवं वायुपुराण में भी इन लोकों की विस्तार सीमा तथा अन्य लक्षण समान हैं। इन्हीं पुराणों में निम्न लोकों के विस्तार एवं उनके लक्षण बताए गये हैं। तीन निम्न लोक हैं :-

भू:, भुव:, स्व: में पृथ्वी का वह अंश जिसपर पैदल चला जा सकता है, उसे भुर्लोक कहते हैं। वह स्थल जो भुर्लोक से सूर्य तक है, जहाँ सिद्ध एवं मुनि रहते हैं, उसे भुवर्लोक कहते हैं।

वह स्थल जो सूर्य से ध्रुव तक है, उसके १००० योजन के विस्तार को सुवर्लोक कहते हैं। इन तीनों निम्न लोक को कृत या क्षणभंगुर कहा जाता है। ऊपर के तीनों लोक अकृत या स्थायी कहा गया है। महर्लोक इन दोनों लोकों के बीच में स्थित है, अत: यह कृत और अकृत दोनों ही है। कल्प के अन्त में महर्लोक से सभी जीव-जन्तु समाप्त हो जाते हैं फिर भी इनका पूर्ण विनाश नहीं होता।

लोक के सम्बन्ध में निम्न तीन लक्षणों पर विचार किया जा सकता है।

(क) ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सौर्य तथा ज्यामितिक दृष्टिकोण से पुराणकार पूर्णत: अवगत थे। उन लोगों ने लोक का वर्णन दोनों ही आधारों पर किया है।

(ख) यह स्पष्टत: कहा गया है कि तीन निम्न लोक कृत हैं और तीन उच्च लोक अकृत हैं। महर्लोक में दोनों लक्षण हैं।

(ग) जैसे-जैसे हम निम्न लोक की ओर जाते हैं, पदार्थ स्थूल से स्थूलतर बनता जाता है।

सप्तलोक के प्रतिनिधि देवता

उच्चतम ब्रह्मलोक में ब्रह्मा या मनु का निवास है। जब मनु का निवास रहता है तो उसी लोक को सत्यलोक कहते हैं। प्रतिनिधि देवता सृष्टिकर्त्ता है।

दूसरे लोक की अध्यक्षता वैराजस् करते हैं और इस लोक के नाश के बाद तपोलोक है। वैराज विराज या ब्रह्मा के पुत्र हैं। वे जीवात्मा के प्रतिरूप हैं। वे तपस्या करते हैं अत: इस लोक का नाम तपोलोक है।

तीसरा लोक जनलोक है और इसमें जन, कुमार, सनक और मुनि निवास करते हैं। मुनि मानवीय कामनाओं से ऊपर हैं। रुद्र के आदेशानुसार इन्हें जनलोक में रहना पड़ता है।

चौथा लोक महर्लोक है। ऋषि इनके प्रतिनिधि देवता हैं। ऋषि वैसे व्यक्ति हैं जिनकी पूजा मानव एवं देवता दोनों ही करते हैं।

पृथ्वी ही भू:लोक है। इसपर मानव तथा अन्य जीव-जन्तुओं का निवास है। यह सांतवा निम्न लोक है। भू:लोक से सूर्य तक स्थान जहाँ शिव और मुनि रहते हैं, उन्हें भुव:लोक कहते हैं, भुव:लोक में राहु, केतु आदि का निवास है। स्व:लोक में देवता आदि का निवास है। इसे ३३ करोड़ देवताओं का निवास माना गया है।

तल एवं उनके प्रतिनिधि देवता

लोक ही तरह तल भी पुराणों के अनुसार सात हैं। उनके सभी तल पुराणों में समान नहीं हैं।

भागवतपुराण में इन तलों के नाम निम्नलिखत हैं :-

अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।[१]

विष्णुपुराण में इनके नाम निम्नलिखित हैं :-

अतल, वितल, नितल, गमिस्तिमान्, महातल, रसातल और पाताल।

प्रत्येक तल की संगति प्रत्येक लोक से है। पाताल की संगति भु:लोक से है। अन्य तलों की अन्य लोक से क्रमश: है। इन तलों का वर्णन भागवतपुराण में है। इन तलों में दैव, दानव और नाग का निवास है।

अतल लोक के प्रतिनिधि देव महादेव तथा भवानी, सुतल के वली, तलातल के माया दानव, महातल के नाग, रसातल के दैव और दानव और पाताल के वासुकी हैं।

इनमें सीमित दिक् का वर्णन है, जिसका विभाजन विभिन्न क्षेत्रों में हुआ है। दोनों महाकाव्यों में पाताल की चर्चा नहीं मिलती है।

योगवासिष्ठ में तीन प्रकार के आकाश की चर्चा है :-

(क) चित्ताकाश, (ख) चिदाकाश या स्प्रिच्युअल एस्पेस, (ग) आकाश या फिजिकल एस्पेस। गीता में दिक् या आकाश को विभु माना है।

इनमें सारे पदार्थों के लिए स्थान है। किन्तु इससे आकाश में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।

गीता में भगवान् कृष्ण के विश्वरूप की चर्चा है, जिसमें कई विश्वों का निवास है।

पुराणों एवं उप-पुराणों में जिस दिक् या आकाश की चर्चा है वे सावधि एवं सान्त हैं। इसकी पुष्टि लोक एवं पाताल वर्णन से होता है। असीम एवं अनन्त आकाश या दिक् का उल्लेख परोक्ष रूप से ही हुआ है।

---

१. भागवत०, V. २४.७-३१

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध एवं जैन दर्शन में दिक् एवं काल की अवधारणा

खण्ड-१

बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं- हीनयान और महायान। हीनयान में धार्मिक कट्टरपन अधिक है। महायान में कुछ धार्मिक नियमों को शिथिल किया गया ताकि गृहस्थ भी इस धर्म के अनुयायी बन सकें।

हीनयान के मूलतः दो स्कूल हैं-सौत्तरान्तिक और वैभाषिक। इसी प्रकार महायान् के अन्तर्गत भी दो स्कूल हैं-योगाचार ओर माध्यमिक।

सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म एवं दर्शन का सबसे पुराना स्कूल है। इस स्कूल के सिद्धान्तों का विकसित रूप वैभाषिक दर्शन में मिलता है।

वैभाषिक के अनुसार काल संस्कृत धर्म के अन्तर्गत आता है। संस्कृत धर्म की व्याख्या में क्रम में अध्वा, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया।

अध्वा का अर्थ है संस्कृत धर्म काल से प्रभावित हैं। कथावस्तु का अर्थ है कि भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् संस्कृत धर्म पर प्रभाव डालता है। सनिःसार का अर्थ है कि सभी संस्कृत धर्म का विनाश होता है। सवस्तुक का अर्थ है कि संस्कृत धर्म, कारण के द्वारा नियंत्रित होता है। पूर्व जीवन का कर्म वर्त्तमान जीवन का कारण है।[१]

---

१. स्फूटार्था-ते पुनः संस्कृत धर्माः; रूपादिस्कन्ध पंचकम्।
ते एवाध्वा कथावस्तु सनिः ऽसार सवस्तुकः।

वसुबन्धु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अभिधर्मकोष में सर्वास्तिवाद की परिभाषा इस प्रकार की है- सर्वास्तिवाद में तीनों ही काल यथा भूत, वर्त्तमान एवं भविष्यत् में किसी भी वस्तु के अस्तित्त्व का बना रहना स्वीकार किया गया है, अतः इसे सर्वास्तिवाद कहा गया है। इस प्रकार सर्वास्तिवाद तीनों ही कालों के अस्तित्त्व को भी स्वीकार करता है।[१]

सर्वास्तिवाद ने निम्न आधार पर काल के तीन विभाग यथा भूत, वर्त्तमान एवं भविष्यत् को स्वीकार किया है :-

(क) पहला तर्क धर्म ग्रंथों के आधार पर है। बुद्ध ने संयुक्तागम में कहा है कि रूप नित्य नहीं है।[२] उन्होंने श्रावकों को कहा है कि भूतरूप, वर्त्तमान रूप एवं भविष्यत् रूप से अनासक्त रहें। सर्वास्तिवाद का कहना है कि यदि भूत रूप अस्तित्व में नहीं है श्रावकों को चेतावनी देना निरर्थक है। यही तर्क वर्त्तमान रूप एवं भविष्यत् पर भी लागू होता है।

(ख) दूसरा तर्क है कि विज्ञान दो कारणों से उत्पन्न होता है-इन्द्रिय तथा विषय। यदि भूत तथा भविष्यत विषय (रूप) नहीं हैं तो इन विषयों का ज्ञान होना असम्भव है।[३]

(ग) यदि आलंबन (विषय) है, तभी विज्ञान सम्भव है। इससे भूत एवं भविष्यत् में विश्वास करना अनिवार्य है।

(घ) यदि भूत अस्तित्त्व में नहीं है तो किस प्रकार भूत कर्म कोई फल पैदा करता है? जब कार्य उत्पन्न हो जाता है, तो कारण (विपाक हेतु) अस्तित्त्वहीन जो जाता है और यह (कारण) कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता।

इस प्रकार वैभाषिक दर्शन किसी वस्तु का अस्तित्त्व तीनों कालों में

---

१. अभिधर्म॰, V. २५.२६-चतुर्दिशाः रते भावलक्षणावस्था-न्यथा यथा-अन्यधिकाह्वयाः तृतीयः सोमानोऽध्वानः कारिन्नन व्यवस्थिताः

२. संयुक्तागम, III. १४ - रूपमनिव्यमतीतमनागतम्

३. वही, - III. ३२ (स्फुटार्था)-न द्रव्यम् प्रतित्य मनोविज्ञानम्, स्यात्; यदतीतानागतालंवनिमिति विशेषः। ततौ विज्ञानमेव स्यात् आलंवनाभावादिति।।

प्रमाणित करता है। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या बौद्धधर्म किसी भी वस्तु का अस्तित्व तीनों कालों में बने रहने को प्रमाणित कर सकता है जब कि इन्होंने संसार एवं सारी वस्तुओं को क्षणभंगुर माना है? वैभाषिक तीन असंस्कृत धर्म को मानते हैं, आकाश, प्रतिसंख्या निरोध एवं अप्रतिसंख्या निरोध। ये तत्त्व न तो उत्पन्न होते हैं, न इनके क्षय होने की संम्भावना रहती है और न ही इसका विनाश होता है। इन तीन असंस्कृत धर्मों के अतिरिक्त इन्होंने ७२ तत्त्वों को माना है जो सतत् परिवर्तनशील हैं फिर भी तीनों कालों में अपना अस्तित्व बनाये हैं। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने भी इस तरह के तत्त्व को माना है। वैभाषिक के अनुसार ये तत्त्व (धर्म) क्षणभंगुर और स्थायी दोनों ही हैं। इस उक्ति की कड़ी आलोचना सौतरान्तिकवादियों तथा नागार्जुन ने की है। एक ही तत्त्व में परिवर्तन तथा स्थायित्व जैसे परस्पर विरोधी गुण का होना कैसे संभव है? इसके उत्तर में चार आचार्यों ने चार प्रकार के तर्क दिये हैं। इन आचार्यों के विचार निम्नलिखित हैं:–

(क) मदन्त धर्मत्रात–मावन्ययात्व के प्रवक्ता हैं। यदि किसी वस्तु में परिवर्तन हो तो वह रूपात्मक है, उससे वस्तु में विकार नहीं उत्पन्न होता है। सोना से विभिन्न प्रकार के जेवर बनते हैं किन्तु सभी परिवर्तनों के बावजूद वह सोना ही रहता है। कोई वस्तु अपने भविष्यत् रूप छोड़ देती है तो वर्त्तमान रूप को धारण करती है, वर्त्तमान रूप को छोड़ देती है तो भूतरूप को धारण करती है, फिर भी वह वस्तु सभी कालों में बनी रहती है। परिवर्तन केवल रूप में होता है।

(ख) मदन्त घोषक-इसके अनुसार वस्तुओं में जो परिवर्त्तन होते हैं, वे उनके लक्षण में होते हैं। यद्यपि भूत में लक्षण विशेष होता है फिर भी वे वर्त्तमान और भविष्यत् के लक्षण को पूर्णतः नहीं छोड़ते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् भी भूत एवं वर्त्तमान के लक्षण को पूर्णतः नहीं छोड़ता है। उदाहरण स्वरूप, एक ही पुरुष एक ही समय कई स्त्रियों के साथ सम्बन्ध बनाये रखता है, जबकि एक रूप के साथ उसका सम्बन्ध बना हुआ है।

इस प्रकार किसी वस्तु में तीनों काल समसामयिक रूप से वर्त्तमान रहते हैं।

(ग) मदन्त वसुमित्र-ये अवस्थान्यधिक के प्रवर्त्तक हैं। वस्तु में परिवर्तन उसकी अवस्था में होता है। एक अंक, दस, एक सौ या एक हजार अवस्था के बदल जाने से होता है। जबकि कोई वस्तु कारित्र अवस्था में होती है, वह वर्त्तमान है और जब यह कारित्र नहीं रहती है तो भविष्य है। इस प्रकार अवस्थाओं के परिवर्तन के कारण इनका नामकरण भिन्न है यद्यपि उस वस्तु में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

(घ) अन्यथान्यधिक के प्रवक्ता मदन्त बुद्धदेव हैं। उनके अनुसार सम्बन्ध में परिवर्तन होने से ही परिवर्तन होता है, उसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। एक ही महिला बेटी, स्त्री एवं मां सम्बन्ध में परिवर्तन के कारण बन जाती है। जिसमें पूर्ववर्त्ती एवं अनुवर्त्ती घटनाएँ रहती हैं, वे वर्तमान हैं, जिनमें पूर्ववर्त्ती घटनाएँ नहीं रहतीं और केवल अनुवर्त्ती घटनाएं रहतीं हैं, उन्हें भूत, जब पूर्ववर्त्ती घटनाएं रहतीं हैं किन्तु अनुवर्त्ती घटनाएं नहीं रहतीं, वे भविष्यत् हैं।

वसुवन्धु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अभिधर्मकोष भाष्य में तीन प्रसिद्ध आचार्य मदन्त धर्मत्रात, मदन्त घोषक एवं मदन्त बुद्धदेव के सिद्धान्तों की आलोचना की है ओर मदन्त बुद्धदेव के सिद्धान्त को भी आंशिक रूप से ही स्वीकार किया है। मदन्त धर्मत्रात पर मकड़े के जाल में फंसने का आरोप लगाया है। उन्होंने अज्ञानवश सांख्य के परिणामवाद को स्वीकार कर लिया है। उसके सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान, भूत बन जाता है और भविष्यत् वर्तमान। क्या वर्त्तमान, भूत एवं भविष्यत् एक दूसरे में मिल जाते हैं? यदि वर्तमान से भूत या भविष्यत् बनने के क्रम में पूर्व स्थिति को नहीं छोड़ता है तो एक दूसरे से मिल जाते हैं। इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् एक ढेर जैसा बन जाते हैं, इससे तीनों के बीच का अन्तर मिट जाता है। यदि पूर्व रूप पूर्णतः समाप्त हो जाता है तो सर्वास्ति का सिद्धान्त ही गिर जाता है।

मदन्त घोषक के सिद्धान्त से भी सर्वास्तिवाद की रक्षा नहीं होती।

क्या भूतता, वर्त्तमानता एवं भवष्यितता सांख्यिक दृष्टि से तत्त्व निहित हैं या उससे अलग? यदि पहला विकल्प माना जाय, लक्षण की उलझन बढ़ जायगी। दूसरे विकल्प में, लक्षण तत्त्व से सम्बन्धित नहीं होगा और हवा में लटका रहेगा। उसे कोई आधार नहीं मिलेगा। एक स्त्री के रहते दूसरी महिला से सम्बन्ध रखने में विरांगति नहीं है। किन्तु वर्त्तमानता के रहते भूतता या भविष्यतता का रहना असम्भव है। भूत व्यक्ति या वस्तु वर्त्तमान से अवश्य ही भिन्न होगा। सर्वास्तिवाद का सिद्धान्त परिवर्तन के बीच स्थायित्व की कल्पना असंगत तथा अयुक्तिसंगत है।

मदन्त बुद्धदेव का चतुर्थ सिद्धान्त इन कालिक लक्षण को कालिक विभाजन के सापेक्ष माना है। किन्तु नहीं बतलाते हैं कि किस प्रकार भूत, वर्त्तमान या भविष्यत् से भिन्न है। भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् की परिभाषा से भ्रान्ति दूर नहीं होती है। भविष्यत् वर्तमान बन जाता है और वर्तमान भूत बन जाता है। यदि ये लक्षण सदा वर्तमान रहते हैं तो भ्रान्ति नहीं दूर होगी और यदि किसी स्थिति में लक्षण वर्तमान नहीं रहते हैं तो सर्वास्तिवाद का सिद्धान्त गिर जाता है। कठिनाई काल की गतिशीलता के कारण होती है, जिसके द्वारा बुद्धदेव परिवर्तन की व्याख्या करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धदेव काल के इस लक्षण से अनभिज्ञ हैं। जो उदाहरण एक ही स्त्री की बेटी, पत्नी एवं मां बनने का दिया गया है, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। इसमें निश्चित प्रसंग है और एक दूसरे. मिलते नहीं हैं। काल का स्वभाव गतिशील है अत: यह अन्य विभाजन को प्रभावित करता है।

तृतीय सिद्धान्त जो वसुमित्र का है, उसे वसुबन्धु ने आंशिक रूप से स्वीकार किया है इस सिद्धान्त के अनुसार भूत एवं भविष्यत् में कारित्र का अभाव रहता है। केवल वर्त्तमान में कारित्र की शक्ति है। यह सिद्धान्त वर्त्तमान, भूत एवं भविष्यत् के बीच का अन्तर बतलाता है। किन्तु यह सिद्धान्त भी समस्या का समाधान नहीं करता है। कारित्र का तादात्म्य सम्बन्ध तत्त्व से होगा या नहीं होगा। यदि यह बाह्य गुण है, किसी प्रकार तत्त्व से सम्बन्धित है, तो तत्त्व वर्तमान में स्थित रहेगा किन्तु भूत एवं भविष्यत् में इसका अस्तित्व नहीं रहेगा क्योंकि कारित्र ही अस्तित्त्व का

गुण है। यदि कारित्र सभी काल विभाग में वर्तमान रहेगा तो वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् के बीच का अन्तर मिट जायगा। सर्वास्तिवाद में कोई भी वस्तु तीनों कालों में वर्त्तमान रहती है और साथ ही यह भी मानता है कि कारित्र केवल वर्तमान का गुण है। यह परस्पर विरोधी है। इसका अर्थ होगा कि यह है भी और नहीं भी।

यद्यपि बौद्ध धर्म के महान आचार्यों के द्वारा परिवर्त्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया गया है किन्तु लगता है कि यह सांख्य-योग के परिणामवाद के सिद्धान्त से उधार लिया गया है। काल की दृष्टि से बौद्ध दर्शन से सांख्य-योग पूर्व में ही हुआ। सम्भव है कि बुद्ध के दार्शनिक विचार को सांख्य-योग दर्शन ने प्रभावित किया हो। बुद्ध सांख्य आचार्य आर॰ आर॰ कलन एवं रुद्रक रामपुत्र के शिष्य थे। परिवर्तन का सिद्धान्त परिणामवाद से उधार लिया गया है।

प्रो॰ आर॰ पीस्येल ने कहा है- "सैद्धान्तिक बौद्ध दर्शन सांख्य-योग पर पूर्णतः निर्भर है। श्री एच॰ ओल्डेनवर्ग ने भी प्रो॰ पीस्येल के विचार का समर्थन किया है। श्री ओल्डेनवर्ग ने कहा है मैं अधिकारिक रूप से कह सकता हूँ कि सांख्य-योग निकट नहीं तो दूरस्थ आधार है, बौद्ध दार्शनिक विचार का।" प्रो॰ गार्वे एवं श्री एम॰ ई॰ सेनार्ट सांख्ययोग के बौद्ध दर्शन पर अधिक प्रभाव को मानते हैं। श्री एम॰ ई॰ सेनार्ट योग दर्शन पर अधिक निर्भर मानते हैं।

परिणाम के स्वभाव की स्पष्ट व्याख्या योगभाष्य में हुई है-तत्र व्युत्थान निरोधयो: अभिनव प्रादुर्भावं धर्मिणि परिणाम:"--।। १.१३

रूपात्मक परिवर्तन को धर्म परिणाम कहते हैं। लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम, धर्म परिणाम में ही सन्निहित है। किन्तु इनका अलग नामकरण किया गया है क्योंकि इनमें कुछ भिन्न गुण हैं। लक्षण परिणाम के कारण कुछ वस्तु उत्पन्न होते हैं और उनका विनाश हो जाता है। जन्म एवं मृत्यु रूपात्मक परिणाम में ही निहित है। किन्तु इसका अलग नाम लक्षण परिणाम दिया गया है। यह परिणाम, रूप के तीनों पक्षों का ध्यान रखता है यथा अव्यक्त (भवष्यित् का), व्यक्त (वर्त्तमान का),

व्यक्त, जो बीत चुका है किन्तु संचित है (भूत का)। अवस्था परिणाम धर्म परिणाम का ही एक रूप है। इस परिणाम के कारण किसी वस्तु को नया-पुराना कहते हैं।

परिणाम की व्याख्या जो ऊपर की गयी है, उससे स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन ने परिणामवाद के सिद्धान्त को सांख्य-योग दर्शन से उधार लिया है।

वसुवन्धु कालक्रम में सौतरान्तिक सिद्धान्त के प्रतिपादक बन गये। अभिधर्मकोष में विशद कथोपकथन के बाद सौतरान्तिकों की विजय दिखायी गयी है। तिब्बती ग्रंथ में भी इस आशय की बात कही गयी है।

सौतरान्तिकों ने वैभाषिक दृष्टिकोण की समीक्षा की है कि इन्होंने तीनों कालों के अस्तित्त्व को माना है। सौतरान्तिक की समीक्षा के आधार निम्नलिखित हैं :-

(क) सौतरान्तिकों के अनुसार वैभाषिकों का पहला तर्क, जो संयुक्तागम पर आधारित है, उसे प्रसंग के आधार पर देखना चाहिए। हमारे धर्माचार्य की यह उक्ति कि एक भूत है, एक भविष्यत् है विशेष अर्थ रखता है। जब धर्माचार्य अजिविका जो पूर्व जन्म के कर्म के फल का निषेध करते हैं, उन्होंने भूत एवं भविष्यत् के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने स्वीकार किया कि पूर्व कारण एवं भविष्य फल वे हैं जो पूर्व में हुए और भविष्य में होंगे।

(ख) दूसरा तर्क जो यह मानता है कि विज्ञान, दो कारणों से उत्पन्न होता है- इन्द्रिय एवं विषय। सौतरान्तिक मानसिक विषय एवं इन्द्रिय जन्य विषय के बीच अन्तर बताता है। वे मानते हैं तो इसका अर्थ होगा कि चर्चा हुई है, वह सक्रिय कारण है। यदि यह सक्रिय कारण है तो इसका अर्थ होगा कि घटना, जो हजार कल्प के बाद घटेगी अपने संगत विज्ञान का सक्रिय कारण होगी। लेकिन यह असम्भव है। यदि यह सक्रिय मस्तिष्क का निष्क्रिय विषय है तो इसका अर्थ होगा कि यह भविष्य और भूत दोनों ही हो सकता है। विज्ञान दो कारणों पर निर्भर करता है: इन्द्रिय तथा संगत विषय ।

क्या यह विषय बुद्धि के समान वास्तविक कारण है? या क्या यह निष्क्रिय विषय है जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है? यदि यह वास्तविक कारण है तो हजार कल्प के बाद जो घटना घटती है या जो कभी नहीं घटती है, वे संगत विज्ञान का क्या वास्तविक कारण है? क्या निर्वाण अपना ही वास्तविक कारण बन सकता है? यदि वैसे विषय केवल निष्क्रिय विषय हो तो वे भविष्यत् या भूत दोनों ही हो सकते हैं। वैभाषिक प्रश्न उठाते हैं कि यदि वे स्थित नहीं हैं, वे विषय कैसे हो सकते हैं? सौतरान्तिक का उत्तर है कि उनका अस्तित्व उसी रूप में होता है, जिस रूप में वर्त्तमान क्षण और वर्त्तमान स्थान में सोचा जा सकता है। दूसरे प्रश्न कि वे भविष्यत् एवं भूत के रूप में कैसे सोचा जाता है के उत्तर में सौतरान्तिक का कहना है कि जब कोई व्यक्ति भूत विषय का स्मरण करता है या पूर्व भावना, वे कभी नहीं कहते कि "यह है" पर केवल कहते हैं कि "यह था"। वे उसी रूप में वर्त्तमान समय एवं वर्त्तमान स्थान पर सोचते हैं।

(ग) सौतरान्तिक तीसरे तर्क की भी आलोचना करते हैं कि विज्ञान की उत्पत्ति के लिए आलम्बन आवश्यक है, इन्द्रियजन्य विषय के रूप में भूत उसी रूप में स्मरण किये जाते हैं, जिस रूप में वे वर्त्तमान थे और बुद्ध को भविष्य विषय भी वर्त्तमान के समान ज्ञात है। इसलिए भूत एवं भविष्यत् का अस्तित्व व्यथ है। अस्तित्व और अन-अस्तित्व दोनों ही मानसिक विषय हो सकते हैं और इनका सम्बन्ध बाह्य विषय से हो सकता है, फिर भी यह विषयगत तत्त्व नहीं होगा। इसे विकल्प या कल्पना कहेगे। दिंगनाग तर्कशास्त्री ने ऐसा ही माना है। विकल्प को योग-सूत्र में विषयगत विज्ञान माना गया है। यह विशुद्ध प्रत्यय है यथा ''चौकोर वृत्त" या बन्ध्या पुत्र: शब्दज्ञान अनुपाति वस्तुशून्यो विकल्पः।

(घ) चतुर्थ तर्क, जो भूत के वास्तविक अस्तित्व पर निर्भर करता है कि भी आलोचना सौतरान्तिकों ने की है। सौतरान्तिक कभी यह नहीं मानते कि पूर्व कर्म से सीधे फल प्राप्ति होती है। यह कर्म घटनाओं

के कड़ी की एक कड़ी है, जिसमें फल तुरन्त या देर से उत्पन्न होता है। ऊपर उक्ति से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सौतरान्तिक केवल वर्तमान को मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वसबन्धु ने सौतरान्तिक मत का प्रतिपादन किया है।

विभज्यवादी स्कूल के प्रवर्त्तक वसुबन्धु थे। इस स्कूल ने वैभाषिक तथा सौतरान्तिक मत के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। यह स्कूल वर्तमान तत्त्वों और भूत के, उस अंश का जो शक्तिविहीन नहीं है, अस्तित्व को स्वीकार करता है किन्तु भविष्यत् की वास्तविकता को अस्वीकार करता है।

वसुवन्धु लिखित विशतिका के आधार पर योगाचार स्कूल के दृष्टिकोण को जाना जा सकता है। वसुवन्धु अन्त में योगाचार स्कूल के मतानुयायी बन गये। विशतिका इस स्कूल के मूल ग्रंथ में है। इस स्कूल के अनुसार विज्ञान से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। वे विषय जो विज्ञान के आधार के रूप में प्रतिभासित होते हैं, वे पूर्णत: सत्ताहीन हैं। प्रतिभासिक जगत की सत्ता दूषित दृष्टिवाले का विभ्रम मात्र है।

वस्तुवादियों का कहना है कि यदि विज्ञान को ही एकमात्र सत्ता मान लिया जाय तो दिक् एवं काल के निर्धारण के लिए कोई युक्तिसंगत तर्क नहीं दिया जा सकता। दिक् एवं काल का निष्कासन के लिए अनुभवजन्य विषय आवश्यक है। अनुभव स्थान विशेष एवं काल विशेष में ही प्राप्त होता है न कि हर स्थान पर या हर काल में। इस प्रकार सभी विषयों को विभ्रम बना देने से दार्शनिक उलझन उपस्थित होता है।

योगाचार का मत है कि दिक्-कालिक निर्धारण तार्किक आधार पर हो सकता है। इस निर्धारण के लिए विषयगत सत्ता की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि स्वप्न में कोई बाग, कोई मर्द या औरत नहीं होती है, स्वप्न से परे, फिर भी विशेष स्थान और विशेष काल में अनुभव किये जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि दिक्-कालिक निर्धारण विषय सत्ता के नहीं रहने पर भी सम्भव है। इस प्रकार दिक् एवं काल मात्र मानसिक प्रत्यय हैं।

दिक् एवं काल को अनादि, अपरिवर्तनीय एवं नित्य, वैभाषिकों ने

माना है। किन्तु माध्यमिक मत वाले इसे नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि सभी वस्तु कारण-कार्य के रूप में सम्बन्धित हैं। जहाँ यह सम्बन्ध नहीं है, वह वस्तु अस्तित्व-विहीन है। यदि वैभाषिक मत को मान लिया जाय तो काल, जो अनादि और अपरिवर्तनीय है, स्वत: सत्ताविहीन हो जाता है। "कोई सत्ता ऐसी नहीं है जो निरपेक्ष हो। वस्तुत: स्थायी सत्ता कहीं नहीं होती।"

दिक् एवं काल व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी विषयगत सत्ता नहीं है।

वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं यथा कुर्सी, टेबल आदि। इन दो मानसिक प्रत्ययों को आदतन हम अस्तित्व प्रदान कर देते हैं।

संसार की वस्तुओं में परिवर्तन का प्रमुख कारण काल है। काल को विभु एवं नित्य माना जाता है क्योंकि सभी वस्तुओं को प्रभावित करता है। इस प्रकार काल आदि कारण है। किन्तु माध्यमिक मत वालों के अनुसार काल को कारण नहीं मानने का समीचीन आधार है। अपने तर्क के पक्ष में वे निम्नलिखित कारण बताते हैं :-

प्रथमत: काल को अपरिर्वतशील एवं समरूप सत्ता माना जाता है। यदि यह कारण है तो इसका अर्थ होगा बीज निरन्तर किसी कार्य को उत्पन्न करेगा किन्तु ऐसा नहीं होता है। समय विशेष पर ही बीज कार्य को उत्पन्न करता है, दूसरे समय में कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। काल में कारण के रूप में परिवर्तनीय लक्षण होंगे। इस प्रकार काल भी बीज के समान क्षणभंगुर सत्ता बन जायगा। इसके अतिरिक्त कार्य कारण का व्यक्त रूप है। दूसरे शब्दों में, कारण में विकार उत्पन्न होने से कार्य की उत्पत्ति होती है। बीज नष्ट होकर ही पौधे को उत्पन्न करता है। इस प्रकार काल, जो अनादि एवं स्थायी है, कार्यों की उत्पत्ति नहीं कर सकता। यदि काल को कारण मान लिया जाय तो इसका अर्थ होगा कि किसी कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति होगी, जो असम्भव है। कारण और कार्य का स्वरूप एक ही होना चाहिए। क्योंकि कार्य कारण का ही परिवर्तित रूप है। यदि कारण विभु है तो कार्य को भी विभु होना चाहिए। किन्तु ऐसा

होना सम्भव नहीं है। इससे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि अनादि एवं स्थायी काल कारण नहीं बन सकता।

वैभाषिक दर्शन में काल के तीन विभाग, यथा भूत, वर्त्तमान एवं भविष्यत् के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। नागार्जुन इस सत्ता का निषेध करता है क्योंकि काल के तीन विभाग अन्योन्याश्रित एवं सापेक्ष हैं। वर्त्तमान एवं भूत की सत्ता भविष्यत् पर निर्भर करती है अतः इन्हें भूत में भी अस्तित्व में रहना चाहिए।[१] इस प्रकार ये भविष्यत् में ही सन्निहित हैं। "यदि यह तर्क दिया जाय कि वर्त्तमान तथा भविष्यत् भूत से भिन्न हैं और भूत में स्थित नहीं हैं", निरपेक्ष वर्त्तमान या भविष्यत् की सत्ता को मानना होगा, जो सम्भव नहीं है। बिना विभाग के काल का अस्तित्व संभव नहीं है। यही तर्क भूत के लिए भी दिया जा सकता है।[२]

विषयों से परे काल का अस्तित्व सम्भव नहीं है। काल का अस्तित्व परिवर्त्तनशील वस्तुओं पर निर्भर है। ये परिवर्तनशील वस्तुऐं स्वयम् अवास्तविक हैं और इस प्रकार काल भी अवास्तविक बन जाता है।

मिलिन्द प्रश्न में काल पर विशद विचार किया गया है।[३] मिलिन्द के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि काल से तात्पर्य है, भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्। इस प्रकार सापेक्ष काल पर विचार किया गया है। यह भी कहा गया है, एक काल है, जिसका अस्तित्व है और एक काल है, जिसका अस्तित्व नहीं है। यहाँ संस्कार एवं काल को अन्योन्याश्रित माना गया है। कुछ संस्कार हैं जो समाप्त हो गये हैं, उनके लिए काल नहीं है। किन्तु कुछ संस्कार हैं जो कार्य उत्पन्न कर रहे हैं, या जिनमें कार्य उत्पन्न करने की क्षमता है या जो पुनर्जीवन दे सकते हैं, उसके लिए काल हैं। कुछ व्यक्ति हैं जो पूर्व जन्म के संचित कर्म का फल भोग रहे हैं, उनके लिए काल है। अर्हत के लिए काल नहीं है। इस प्रकार निर्वाण को काल से परे कहा गया है।

---

१. मा. का. XI-1 प्रत्युत्पन्नो नागतश्च यदि अतीतम् अपेक्षया। प्रत्युत्पन्नो नागतश्च कालोऽतीतो भविष्यतः॥

२. मा.का. XIIX . २ प्रत्युत्पन्नो नागतश्च न स्तस्
तत्र पुनर्यदि, प्रत्युत्पन्नो नागतश्च स्याताम् कथम्।

३. मिलिन्द, २.२. १७-२०

भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् का कारण अज्ञान को माना गया है। काल भी कार्य कारण की कड़ी में एक कड़ी है। काल अनादि हैं। इसकी व्याख्या अंडा, मुर्गी एवं अंडा की कड़ी से की गयी है। अन्त में कहा गया है कि भूत एवं वर्तमान तथा वर्तमान एवं भविष्यत् में निरन्तरता है। साधारण काल की प्रगति एक सीधी रेखा में भूत से भविष्यत् की ओर समझी जाती है। मिलिन्द प्रश्न में काल को चक्रक माना गया है, जहाँ आदि और अन्त नहीं होगा।

काल को सापेक्ष भी माना गया है। जीवनचक्र संकेत करता है कि जीवित प्राणी का सम्बन्ध दिक् एवं काल से है।

कथावस्तु में भी काल की चर्चा है। किन्तु यह दार्शनिक महत्व का नहीं है। कथावस्तु के अनुसार काल विभाग का वास्तविक अस्तित्व नहीं है और सत्ता मात्र वर्त्तमान है। 'सत्ता' एवं वर्त्तमान पर्यायवाची शब्द हैं। जब कोई वस्तु सत्ता खो देती है तो यह वर्त्तमानत्व भी खो देती है" या जब यह वर्तमान में नहीं रहती है तो इसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है"।[१]

काल में विषय सदा स्थिर नहीं रहता।[२] जो सत्ता के स्वरूप से अनभिज्ञ है, वह केवल निरन्तर या स्थिर स्वरूप ही जानता है।

इस ग्रंथ में सभी चेतना की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन किया गया है किन्तु साथ ही इसकी आलोचना भी। कथावस्तु चेतना को क्षणिक माना है किन्तु बाह्य वस्तु में स्थिरता के आभास को भी माना है, यद्यपि ये वस्तुऐं स्थायी नहीं हैं। यह विचार धार्मिकग्रंथों के विचार जैसा है।

बौद्ध दर्शन में दिक् की अवधारणा

वसुवन्धु ने सर्वास्तिवाद के आधार पर धर्म दो प्रकार का माना है। संस्कृत धर्म वह है जो अंशों से निर्मित है। अतः यह विनाशशील और परिवर्तनशील है।[३]

---

१. कथावस्तु, १.६-८ एवं १.५-६

२. वही, १.१०

३. अभिधर्मकोष, कारिका- I. ४ - संस्कृत:मार्ग वर्जिता -------------

असंस्कृत धर्म वह है जो अंशों से बना हुआ नहीं है। यह अनादि, अविनाशी एवं अविकारी है। आकाश एक असंस्कृत धर्म है।[१]

आकाश का प्रमुख गुण है, अनावरण। इस लक्षण के आधार पर स्थायी एवं विभु है। यह किसी दूसरे पदार्थ को अवरोध नहीं करता है और न किसी पदार्थ से अवरोधित होता है। असंख्य पदार्थ आकाश में उत्पन्न होते हैं और उनका विनाश भी होता है किन्तु इससे आकाश में विकार उत्पन्न नहीं होता है।" अनावरणत्व आकाश का स्वाभाविक गुण है। इस गुण के कारण यह भौतिक पदार्थों के लिए स्थान प्रदान करता है। कोई दूसरा धर्म नहीं है, जिसमें अनावरणत्व का गुण हो। अतः किसी उदाहरण से आकाश के अनावरणत्व को प्रमाणित नहीं कर सकते। प्रकाश एवं अंधकार में भी अनावरण का गुण है और ये किसी पदार्थ को अवरोध नहीं करता है किन्तु अवरोधित होता है। आकाश शून्य या सत्ताहीन नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि अभाव निषेधात्मक है। यदि सांख्य दर्शन की तरह अभाव भावात्मक माना जाय, फिर भी यह आकाश की सप्रतियोगिक नहीं है। इस प्रकार आकाश सत्ताविहीन नहीं है। यह भावरूप है।

आचार्य शंकर ने शांकरभाष्य में बौद्ध दर्शन के दिक् या आकाश की अवधारणा की निम्न आधार पर आलोचना की है :-

(क) आप काल को "निरूपाख्या" नहीं कह सकते क्योंकि यह एक वस्तु या पदार्थ है"।

(ख) यह कहना कि आकाश मात्र अनावरण है, इससे आपका बचाव नहीं होता है। मान लीजिए एक चिड़िया उड़ रही है तो यह आकाश का आवरण कर देगी जिससे दूसरी चिड़िया एक ही समय में नहीं उड़ सकती है क्योंकि अतिरिक्त आकाश नहीं रह जाता है।

बौद्ध आपत्ति

"किन्तु दूसरी चिड़िया उड़ सकती है, जहाँ आवरण नहीं है।"

---

१. अभिधर्मकोष, I. ५ - अनाश्रवा मार्गसतम् विविधं चापि संस्कृतम् द्वो निरोधो च

उत्तर-"आपकी आपत्ति का अर्थ है कि आकाश वास्तविक वस्तु या पदार्थ है जिससे अवरोधक वस्तु से अंतर मालूम पड़ता है। दूसरे शब्दों में, यह आकाश साधारण अर्थ में है न कि बौद्ध दर्शन के मतानुसार जहाँ आकाश को मात्र अनावरण माना जाता है। यदि आपसे पूछे कि आप कैसे यह कहते हैं कि एक स्थान पर आवरण और दूसरे पर नहीं तो आपका उत्तर होगा, आकाश ऐसी हालत में इसे वास्तविक तत्त्व मानना होगा"।

(ग) "बौद्ध विचार परस्पर विरोधी हैं। बौद्ध दर्शन के एक सूत्र में कहा गया है कि वायु का आधार आकाश है। इस प्रकार बुद्ध स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि आकाश भावरूप है"।

(घ) इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन में असंस्कृत धर्म सम्बन्धी विचार परस्पर विरोधी हैं। कहते हैं कि यह निरूपाख्या या जिसकी परिभाषा नहीं हो सकती फिर भी इसे नित्य माना गया है। यदि कोई वस्तु नहीं है तो इसके बारे में नित्य या अनित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि गुणों का विरोध किसी भी चीज की वास्तविक सत्ता पर निर्भर है"।

शंकर के विचार की समीक्षा

(क) "निरूपाख्या पद का व्यवहार कभी भी असंस्कृत धर्म के संदर्भ में नहीं किया है। यदि यह बौद्ध दर्शन की उक्ति है तो इसका अर्थ कतई नहीं है कि इसकी परिभाषा नहीं हो सकती जैसा कि शंकर मानते हैं। इसका मात्र अर्थ है-निःस्वरूपम्। सर्वास्तिवादियों के अनुसार आकाश भावरूप, विभु एवं नित्य है। वस्तु का अर्थ सत्ता है, किन्तु यह वस्तु नहीं है, अगर वस्तु का अर्थ भौतिक पदार्थ है। बौद्ध दर्शन में आकाश को अभौतिक पदार्थ माना गया है। इस प्रकार शंकर ने बौद्ध दर्शन के तकनीकी पद निरूपाख्या का गलत अर्थ लगाया है।

(ख) आवरण का अर्थ "अवरोध", इस तरह अनावरण का अर्थ अवरोध का नहीं होना है। शंकर ने इस पद का भी गलत अर्थ में प्रयोग

किया है कि इसका अर्थ लगाया है, स्थान छेंकना। इसके द्वारा प्रमाणित करना चाहते हैं कि आकाश भावात्मक सत्ता है। सर्वास्ति-वादी भी आकाश को भावात्मक सत्ता मानते हैं। इसलिए सर्वास्तिवादी के खिलाफ आरोप खंडित हो जाता है।

(ग) आरोप का आधार निरूपाख्या पद का गलत अर्थ है, जिसे ऊपर बतलाया गया है।

सौतरान्तिक के अनुसार आकाश मानसिक प्रत्यय है और इसका विषयगत आधार नहीं है। वे अनादि सत्ता को स्वीकार नहीं करते और आकाश को मात्र मानसिक कल्पना के रूप में स्वीकार करते हैं। आकाश को सत्ता का अभाव माना गया है। अन्धकार में जब हम किसी वस्तु को नहीं देखते हैं तो कहते हैं कि यहाँ आकाश है। वैभाषिक के आकाश को भी ऐसा ही समझना चाहिए।[१]

उद्योतकर को उत्तर देते हुए, कमलसील ने कहा है– "आपका यह कहना कि अनादितत्त्व द्विविध गुणवाले होते हैं, यथा नित्य एवं सत्ताविहीन, आप के अज्ञान का द्योतक है। क्योंकि बौद्ध बुद्धिवादी (सौतरान्तिक) अनादि तत्त्व को सत्ताविहीन विकल्प मानते हैं।

बुद्ध बोधिसत्त्व से प्रतिभासिक जगत् के विश्लेषण क्रम में पाते हैं कि जगत् में एक तत्त्व ऐसा नहीं है जिसपर कार्य कारण नियम लागू नहीं होता। वैभाषिक, जो काल को वास्तविक सत्ता मानते हैं, वे बुद्ध के सच्चे अनुयायी नहीं है। उन्हें साभ्यपुत्रियाँ कहा गया है।[२]

लंकावतारसूत्र से आकाश के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। जो दार्शनिक आकाश के स्वभाव को नहीं जानते हैं, वे आकाश की सत्ता एवं रूप में अन्तर बतलाते हैं। आकाश एवं रूप काल्पनिक है।

आकाश विभु तत्त्व है, जो संसार के पदार्थों को स्थान देता है।

माध्यमिक के अनुसार आकाश विकल्प है।

---

१. स्फुटार्था, II. ५५ – न रूपादिभ्य: पंचभ्यो: संस्कृतं भावान्तरमस्ति। अतो न संस्कृतं द्रव्यान्तरमिति सौतरान्तिका:।।

समीक्षा

विभिन्न स्कूलों (प्रस्थानों) के आकाश या दिक् सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न हैं। साधारण वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों का होना, इस बात का परिचायक है कि साधारण ज्ञान के आधार पर आकाश के स्वभाव को नहीं जाना जा सकता है। कान्ट ने इसे मानसिक प्रत्यय माना है। बुद्धिवादी इसे बाह्य वस्तु का रूप मानता है। दार्शनिकों के विचार में मतैक्य नहीं है कि आकाश या दिक् मानसिक प्रत्यय है या विषयगत तत्त्व। यदि बाह्य पदार्थ नहीं हैं तो आकाश के अस्तित्व का अर्थ नहीं है।

दिक् एवं काल के विभाग का कोई औचित्य नहीं है। वस्तुतः एक और अनेक के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

खंड-२

जैन दर्शन में दिक् एवं काल की कल्पना

जैन दर्शन के अनुसार काल सत् है क्योंकि इसमें स्थिति, ध्रौव्य एवं विनाश के गुण हैं जो सभी सत् के लक्षण हैं।[१] यह दर्शन भौतिक संसार में परिवर्तन एवं गति को सत् मानता है और अवयव के जगत में वृद्धि एवं विकास को भी सत् मानता है। अतः इसे काल को भी सत् मानना पड़ा है। यदि काल को विभ्रम मान ले तो परिवर्तन एवं विकास भी असत् हो जायगा। काल द्रव्य है। यह द्रव्य की सूची में है।[२] निरन्तर परिवर्तन पुदगल का स्वभाव गुण है।[३] काल भौतिक एवं अभौतिक पदार्थों में परिवर्तन का कारण है।[४] काल सदा वर्तमान रहता है अतः भौतिक पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होता है। निरन्तर परिवर्तन पुद्गल का स्वभाव गुण है फिर भी निमित्त कारण का होना आवश्यक है। वह निमित्त कारण काल है।[५] जिस तरह कुम्हार की चक्की की धुरी कोई गति प्रदान नहीं

---

१. तत्त्वार्थ०, V. ३० - तद्भावावययनि नित्यम्

२. वही, V. ३९ -कालस्य ; पंचास्तिकाय - १०२

३. तत्त्वार्थसूत्र - गुण पर्यायवत् द्रव्यम्

४. द्रव्यसंग्रहगाथा, ११

५. पंचास्तिकाय - ९८ जीवाः पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः ...... काल कारणास्तु

करती है किन्तु गति बनाये रखने के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार पुदगल के परिवर्तन में काल सहायक है।[१]

काल के बिना विश्व विकास नहीं हो सकता। समय के बिना उत्पत्ति और विनाश अनोखी घटना प्रतीत होगी। इस प्रकार काल एक द्रव्य है।

जैन दर्शन के अनुसार दो प्रकार के काल हैं-व्यवहार काल एवं निश्चय काल। लोकाकाश में जो असंख्य कालाणु रहते हैं, उन्हें निश्चयकाल कहते हैं।[२] अलोकाकाश में पुद्गल का अभाव रहता है, अतः कालाणु भी नहीं रहते। ये अणु एक दूसरे से मिल नहीं सकते, अतः ये अलग-अलग रहते हैं। वे स्कन्ध नहीं बना सकते। उनकी तुलना रत्नों के ढेर से की जाती है- रयनन् रासिमिव। माला में गुथे रत्न अलग-अलग रहते हैं। इसी प्रकार ये अणु काय नहीं बना सकते जैसाकि अन्य पांच द्रव्य बनाते हैं।[३] प्रत्येक मालाणु केवल एक प्रदेश में रहता है अतः इसे काय नहीं होता।[४] प्रदेश आकाश का वह भाग है, जो एक अणु छेकता है।[५] ये कालाणु अदृश्य, रूपविहीन एवं निष्क्रिय हैं। इससे सत्ता है किन्तु विस्तार नहीं।[६]

जैन दर्शन के अनुसार विस्तार के दो आयाम होते हैं। तिर्यक प्रचय एवं उर्ध्व प्रचय। काल को छोड़कर सभी द्रव्यों में दोनों ही विस्तार होते हैं। काल में अनन्त समय होते हैं, इसलिए इसमें उर्ध्व प्रचय होता है। काल केवल एक प्रदेश छेंकता है अतः इसमें तिर्यक प्रचय नहीं होता है।[७] उर्ध्व प्रचय बतलाता है कि काल की सहायता से विश्व निरन्तर प्रगति एवं विकास कर रहा है।

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा, २१ (वृत्ति) स्वक्रियो पदरूपेन स्वमेव

२. पंचास्तिकाय, १००

३. द्रव्यसंग्रह, २५

४. वही, २४-२६

५. वही, २

६. तत्त्वार्थसूत्र, III. ४४

७. द्रव्यसंग्रह, २२ एवं ४९

निश्चय काल व्यवहार काल या समय का आधार है।[१] यह पदार्थ में परिवर्तन का कारण नहीं है बल्कि परिवर्तन का सहायक है। यह नित्य है।

व्यवहार काल को जैन दर्शन में समय कहते हैं।[२] यह समय निश्चयकाल का परिवर्तित रूप है। यह जीव एवं पुद्गल की गति व्यक्त करता है। यह व्यवहारकाल निश्चय काल पर निर्भर है।[३]

व्यवहार काल सादि एवं सान्त है किन्तु निश्चय काल अनादि एवं अनन्त है। निश्चय काल का प्रमुख लक्षण वर्तना है।[४]

काल अन्य द्रव्यों के अस्तित्व बनाये रखने में सहायक है। यह परिवर्तन का आधार है। यह विश्व की उत्पत्ति, क्षय एवं स्थायित्व में सहायक है। यह युवा एवं वृद्ध बनने में भी सहायक है।[५] काल में भी वृद्धि, विकास एवं क्षय होता है यथा उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी। काल स्वयं परिवर्तन का कारण है। यदि काल के परिवर्तन के लिए दूसरा कारण माने तो इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। काल निरपेक्ष सत्ता है और इसका प्रमुख कार्य दूसरे पदार्थों के परिवर्तन में सहायक होना है।

काल विभाग

काल की सबसे छोटी इकाई समय है। समय काल की वह अवधि है जिसमें एक अणु अपने निकटस्थ अणु तक पुहँचने में लगाता है।[६] मनुष्य को स्वांस अन्दर करने या छोड़ने में जितना समय लगता है, उसे प्राण कहते हैं।

७ प्राण	-	१ स्टोक
७ स्टोक	-	१ लव

---

१. पंचास्तिकाय, १००
२. तत्त्वार्थसूत्र, V. ५० - सोऽनन्त समयः।
३. पंचास्तिकाय, २५ - कालः परायत्तः
४. वही, १००
५. प्रवचनसार-सर्वद्रव्य वर्तना निमित्तः भूतः
६. तत्त्वार्थ०, V. ४०

३८½ लव	-	१ नालि
२ नालि	-	१ मुहुर्त
३० मुहुर्त	-	१ अहोरात्र
१५ अहोरात्र	-	१ पक्ष
२ पक्ष	-	१ मास
३ मास	-	१ ऋतु
३ ऋतु	-	१ अयन
२ अयन	-	१ वर्ष
५ वर्ष	-	युग

युगों के नाम हैं- सौर्य, सवन, चन्द्र, नक्षत्र एवं अभिवधिते।[१]

८४ लाख वर्षों का पूर्वांग होता है। एक पूर्व में ८४ लाख पूर्वांग होते हैं। इससे बड़ी गणना है-अयुत, कमल, नलिन आदि।

काल की सबसे बड़ी इकाई महाकाल है, जो उत्सर्पिणि एवं अवसर्पिण तथा समय का योग है।

समीक्षा

जैन की तत्त्वमीमांसा वैशेषिक दर्शन के समान है। निश्चय काल की संगति महाकल से है। यह अनन्त, नित्य एवं अपरिवर्तनीय काल की संगति बाह्य घटनाओं से नहीं है। बाह्य घटानाओं में पर तथा अपर होते हैं। ब्रैडले ने अपनी पुस्तक "एपियेरेन्स एण्ड रीयलीटी" में कहा है कि परत्व एवं अपरत्व के बिना काल का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सबसे छोटी इकाई "समय" को भी पर एवं अपर में बाँटा जा सकता है। प्रत्ययवादियों ने काल के इस लक्षण से लाभ उठाकर काल को विभ्रम में परिणत कर दिया है।

दार्शनिक काल के अस्तित्व का निषेध करने में अपनी तर्कशक्ति का प्रयोग करें किन्तु पदार्थों के मूल्यांकन के लिए काल की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। "काल" को कुछ दार्शनिक "नित्य अब" मानते

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, IV. १५- तत्कृतः कालविभागः एवं पंचास्तिकाय-२५

हैं किन्तु जनसाधारण की बुद्धि के परे यह अवधारणा है। चरमसत्ता काल से परे है। किन्तु मानव इस धारणा को ग्रहण नहीं कर सकता।

जैन दार्शनिकों ने सत् का अनिवार्य गुण परिवर्तन माना है। व्यवहारकाल एवं निश्चयकाल में अन्तर है। काल एक है और साथ ही अनेक। जैन दार्शनिक अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर इसकी तर्कसंगत व्याख्या एवं सामाधान कर सकते थे। सभी सत् (काल सहित) गतिशील है। जैन दार्शनिकों ने भी दो प्रकार के काल को माना है- व्यवहार काल एवं निश्चयकाल और इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके।

आकाश की सत्ता को जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है। पुद्गल का अस्तित्व पदार्थों को स्थान प्रदान करने पर निर्भर है।[१] इसमें कोई रंग, सुगंध, स्पर्श और स्वाद नहीं है। यह नित्य, रूपहीन, तथा निष्क्रिय है।[२] आकाश में असंख्य प्रदेश हैं, अत: यह अस्तिकाय है।

शब्द की उत्पत्ति स्कन्ध से है। इस प्रकार शब्द का लक्षण भौतिक है। यह आकाश का गुण नहीं है। यदि यह आकाश का गुण है तो इसे रूपविहीन होना चाहिए। मीमांसक भी शब्द को पदार्थ मानते हैं, गुण नहीं। उनके अनुसार शब्द नित्य तत्त्व है।[३]

जैन दर्शन में आकाश एवं दिक् को समान माना है।

आकाश वह है जो धर्म, अधर्म, पुद्गल तथा काल का स्थान प्रदान करता है। लोकाकाश में धर्म एवं अधर्म व्याप्त है।[४] लोकाकाश में असंख्य

---

१. पंचास्तिकाय -१.-सर्वेसांजीवानां शेषानां तथैव पुद्गलानां च यद्ददाति विवरमखिलं तल्लोके भवत्याक्षणम्।

२. तत्त्वार्थसूत्र - ४.७

३. तात्पर्यवृत्ति (पंचास्तिकाय) -७९
भसावर्गना स्कन्धेभ्य: उत्पद्यते इत्यपादक: नियतो निश्चित: न चाकाशाद्रव्यरूपस् तद् गुणो वा यद्याकाशगुणो भवते तर्हि..........

४. पंचास्तिकाय - ९१- जीवा पुद्गलकाया: धर्माधर्मन् च लोकतोऽमन्ये, ततोऽनन्यदाकाश मन्तव्यतिरिक्तम्।

प्रदेश हैं। यह ससीम है। प्रश्न उठता है कि ससीम लोकाकाश में असंख्य भौतिक पदार्थों को स्थान कैसे मिलता है? जैसे एक कोठरी में असंख्य रोशनी है या एक छोटे थैले में असंख्य सोने का सिक्का रहता है। लोकाकाश, जिसमें असंख्य प्रदेश है, असंख्य पदार्थों को रखता है।[१] लोकाकाश से परे आलोकाकाश है। आलोकाकाश में भौतिक पदार्थ नहीं हैं। यह अनन्त प्रदेश है। यह अविनाशी है।[२]

---

१. तात्पर्यवृत्ति (पंचास्तिकाय) - ९१- एकापवर्के अनेकप्रदीपप्रकाश ....।

२. पंचास्तिकाय - ९१ - आकाशस्यानन्तः।

पञ्चम अध्याय

न्यायवैशेषिक में दिक् एवं काल की अवधारणा

काल का अस्तित्त्व

न्यायवैशेषिक दर्शन सृष्टिवाद के सिद्धान्त में विश्वास करता है। काल को सृष्टि का शाश्वत आधार माना जाता है।[1] उत्पन्न वस्तुओं का कारण काल है। काल परत्व, अपरत्व, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर एवं क्षिप्रत्व आदि बोधों का आधार है।[2]

साधारणत: परत्व का अर्थ है अधिक समय का बीतना और अपरत्व का अर्थ कम समय का बीतना। यदि इनका प्रयोग ऊपर के अर्थ में होता है तो काल का अनुमान व्यर्थ है।

इसलिए न्याय वैशेषिक दर्शन में परत्व एवं अपरत्व का संबंध सूर्य की गति से जोड़ा गया है। अब घड़ा है, इस वाक्य का संबंध सूर्य से है। जैसे ही हम "अब" कहते हैं, इसका संबंध सूर्य से होता है। सूर्य कितनी डिग्री क्षितिज से ऊपर या नीचे है। इसी प्रकार परत्व एवं अपरत्व का संबंध सूर्य की गति से है। ये दो गुण प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में होते हैं और इनका संबंध अधिक या कम सूर्य की गति से है। जब हम कहते हैं कि

---

१. भाषापरिच्छेद - ४५ जन्यातां जनकः, जनकः कालो जगतमाश्रयो मतः।

२. वही, ४६-परत्वापरत्व धी हेतुः; वै.सू. II. २.६-कालः परापर व्यतिरेकर . . . . .

देवदत्त यज्ञदत्त से पूर्व है तो साथ ही हम यह भी मानते हैं कि यज्ञदत्त देवदत्त के पश्चात् है। इससे स्पष्ट है कि देवदत्त का संबंध अधिक सूर्य की गति से है और यज्ञदत्त का कम से।

यहां एक प्रश्न उठता है कैसे किसी विषय या वस्तु का संबंध सूर्य से हो सकता है? समवाय सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सूर्य की गति सूर्य में ही सन्निहित है।[२] संयोग का संबंध भी संभव नहीं है क्योंकि वस्तु एवं गतिमान सूर्य की दूरी बहुत अधिक है। इस प्रकार दोनों के बीच एक संबंधसूत्र सूर्य का होना आवश्यक है।

उस संबंध सूत्र का वस्तु एवं सूर्य, जिसमें गति सन्निहित है, संयोग होना चाहिए। वह संबंधसूत्र बड़े आकार का होना चाहिए क्योंकि संसार के सभी सीमित पदार्थों का संबंध सूर्य की गति से जोड़ना है। दूसरे शब्द में, इसे विभु पदार्थ होना चाहिए। अब दो विभु पदार्थ हैं–आकाश एवं आत्मा। यद्यपि ये दोनों विभु हैं किन्तु संबंधसूत्र नहीं हो सकते। विभु पदार्थ को मात्र सूर्य एवं पदार्थ के बीच ही संबंध स्थापित करना नहीं है बल्कि उसे सूर्यगति एवं पदार्थ के बीच भी संबंध स्थापित करना है। आकाश एवं आत्मा में यह क्षमता नहीं है। यदि आकाश वह संबंधसूत्र है तो एक ढोल से आवाज होगी तो सभी ढोलें बज उठेंगे क्योंकि आकाश विभु पदार्थ है। यदि आत्मा वह संबंध स्थापित करेगा तो सीमित पदार्थों में विचित्र गुण उत्पन्न होगा। गुलाब के फूल का सुगन्ध चन्दन में मिलेगा और सोने का पीलापन उजले कमल में मिलेगा। इस असंगत अवस्था से निकलने के लिए, न्याय वैशेषिक ने काल को संबंधसूत्र माना है।

काल के विषय में भी कहा जा सकता है कि यदि काल संबंध सूत्र है, यह भी उन कठिनाइयों से परे नहीं है, जिन कठिनाइयों का सामना आकाश और आत्मा को करना पड़ा है। क्योंकि वे गुणों में उलझन पैदा करते थे, अतः उन्हें संबंधसूत्र नहीं माना गया। काल को भी वही कठिनाई उठानी पड़ेगी। वैशेषिक उत्तर है काल को उस स्थिति में संबंध माना गया है जबकि दो विभु पदार्थों को असंगत प्रमाणित कर दिया गया। काल को

असंगति प्रदर्शन के माध्यम से संबंधसूत्र प्रमाणित किया गया है, जो एक तार्किक पद्धति है।[१]

इसके अतिरिक्त क्षमता का निर्धारण विशेष संदर्भ में होता है। सीमित पदार्थों का सूर्य की गति से संबंध है इसलिए पदार्थों के बीच गुणों का अदल-बदल होने की संभावना नहीं है। इस प्रकार काल को संबंध सूत्र मानने का औचित्य है, जो सूर्य की गति एवं सीमित पदार्थों के बीच संबंध स्थापित करता है।[२]

इस प्रकार यौगपद्य एवं अयौगपद्य चिरत्व एवं क्षिप्रत्व तार्किक आधार हैं, जिससे काल का अनुमान करते हैं। यौगपद्य का अर्थ है कि दो घटनाओं या दो से अधिक का सूर्य की विशेष गति और अयौगपद्य का अर्थ है भिन्न-भिन्न सूर्य की गति के साथ संबंध। इन बोधों का ज्ञान काल के संबंध से ही संभव है। अतः काल का अनुमान तार्किक अनिवार्यता है।

कार्य-कारण नियम पूर्व कल्पना करता है कि काल है। जब यह कहा जाता है कि आकाश अनादि है तो इसका अर्थ है कि आकाश कभी भी असत् नहीं था या यह अनादि काल से सत् है। वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है। कारणवाद केवल असत् पदार्थों के बीच संभव है क्योंकि ये पदार्थ कारण के क्रियाशील होने पर ही सत्ता में आते हैं। घटनाओं की उत्पत्ति के लिए कालिक असत् एवं सत् है। कारणवाद के सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या काल के प्रसंग में ही संभव है।

काल परिवर्तन एवं संशोधन का कारण है। जब हम कहते हैं कि एक व्यक्ति युवा या वृद्ध है तो हम यही समझते हैं कि कालक्रम में कितना शारीरिक परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार काल इन परिवर्तनों का एक मात्र कारण है। इस प्रकार काल को निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

---

१. सिद्धान्तमु०, ४५- स च संबंधः समयादीर्न संभवतीति काल एव तत्संबंध घटकः कल्प्यते।

२. किरणावली, पृ० ११५-११६ - न्यायलीलावती, पृ० २९० - ९१ - न आकाशस्य स्व प्रत्यासत्तिमात्रेण संयुक्त समवायिनमं . . . .

काल के लक्षण

काल का स्वभाव गुण विभु एवं परम महत् होना।[१] परत्व एवं अपरत्व का बोध काल के प्रसंग में ही संभव है।[२] विश्व के सारे पदार्थों का निमित्त कारण काल है। यह कारणवाद संकेत देता है कि काल नित्य है।[३]

काल गति का आधार माना जाता है। "अभी कर रहा हूँ", यह उक्ति बताती है कि काल गति का आधार है।[४] काल विश्व का भी आधार है। विश्व के सारे पदार्थों की उत्पत्ति, पालन एवं संहार का कारण काल है।[५] काल में विभाग, यथा क्षण आदि विभिन्न उपाधि के कारण हैं।[६] क्षण आदि का बोध कर्म पर निर्भर है। कर्म के द्वारा किसी चीज में विभाग होता है। कारण कार्य से पूर्व होता है, अत: कर्म एवं फलित विभाग में अन्तराल होगा। दूसरे शब्द में विभाग का प्रागाभाव कर्म के द्वारा होगा। इस विभाग के साथ संबंधित काल ही प्रथम क्षण है। यह विभाग पूर्व संयोग के विनाश का कारण है। यह दूसरा क्षण है। फिर जब यह संयोग समाप्त होता है तो वह समाप्ति ही बाद के संयोग का कारण बन जाता है। यह क्रम जारी रहता है। प्रलय के समय सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं और इनके साथ ही सभी क्षण समाप्त हो जाते हैं। क्षणों का एक विशेष समूह दिन, रात आदि हैं।[७]

कुछ दार्शनिकों का मत है कि ये विभाग काल में निहित हैं। उपाधि के कारण ये नहीं होते।[८]

---

१. किरणावली - कालखात्मादिशम् सर्वगतत्त्वम् परमं महत्।
२. भाषापरिच्छेद - ४५ - दिग् देशकालाकाशे स्वयमेवं प्रसंग:।
३. प्रशस्तपाद (भाष्य) - पृ० ६४
४. वैशेषिकसूत्र - V. २.२६
५. भाषापरिच्छेद - ४५
६. वही - ४६ . . . . क्षणादि स्यादुपाधित:।
७. सिद्धान्तमुक्तावली - ४६
८. किरणावली - पृ० १४४

किन्तु न्याय-वैशेषिक इससे सहमत नहीं है। इनके निम्न कारण दिये गये हैं–(क) इसके लिए प्रत्यक्ष या अनुमानजन्य प्रमाण नहीं हैं कि काल में क्षण आदि निहित हैं।

(ख) न्याय-वैशेषिक सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। यदि कार्य पूर्व से ही कारण में हो और कारण केवल उसे व्यक्त रूप प्रदान करता है तो कोई नयी चीज उत्पन्न नहीं होगी। इस प्रकार कारणवाद का खंडन हो जाता है।

क्या काल का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है?

भट्ट मीमांसक तथा वेदान्तवादी के अनुसार काल का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव है। काल का प्रत्यक्षजन्य ज्ञान इसलिए संभव है क्योंकि काल आत्मा की तरह विभु है। यदि काल का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है तो काल की सत्ता ही संदिग्ध बन जायगी। प्रत्यक्ष के सिवा कोई दूसरा तर्कसंगत ज्ञान का श्रोत संभव नहीं है। मीमांसक मानते हैं कि काल कार्य का विशेषण है।

यौगपद्यत्व एवं अयौगपद्यत्व, क्षिप्रत्व एवं चिरत्व आदि केवल कार्य पर निर्भर नहीं हैं।[१]

वैशेषिक ने मीमांसक तथा वेदान्तवादियों के ऊपर के तर्क को स्वीकार नहीं किया है। इसने काल को सूर्य की परिक्रमा के साथ जोड़ दिया है। इस प्रकार काल अनुमान का विषय है। वैशेषिक के अनुसार काल रंगहीन है, अत: यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। वैशेषिक का उपरोक्त तर्क विशेष नियम के सामान्यीकरण के दोष से युक्त है। वैशेषिक मानता है कि रंग ही रंगहीन है, फिर भी इसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है। अणु में रंग नहीं है फिर भी इसका ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा होता

---

१. मान, पृ० १८७ - व्यौमकाल दिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते;
न्यायमंजरी - भाग-१-पृ० १२४
प्रत्यक्षगम्य तामेव चित्कालस्य मन्वते।
विशेषणतयाकाय प्रत्यये प्रतिभासनात् क्रमेण।

है। रंग ही एकमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार नहीं है। किसी विषय का प्रत्यक्षीकरण या अप्रत्यक्षीकरण अनुभव पर आधारित है, इसलिए यह कारण-कार्य न्याय से खंडित नहीं हो सकता। नियम को सदा तथ्य संगत होना चाहिए और खंडन नहीं करना चाहिए या उसका अवक्रमण नहीं करना चाहिए।[१]

मीमांसक तथा वेदान्तवादी काल को प्रत्यक्ष का आधार मानते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष की सीमा से अवगत नहीं हैं और काल के विभिन्न पक्ष पर भी ध्यान नहीं देते हैं। जिस काल को हम अनुभव के आधार पर जानते हैं, वे सीमित काल हैं। वे अनुभवातीत काल पर विचार नहीं करते हैं। यह काल अनुभव की सीमा से बाहर है। इसका अनुमानजन्य ज्ञान इस आधार पर हो सकता है कि काल सभी प्रत्यक्ष विषय के विशेषण का सामान्य आधार है। इसके अतिरिक्त परत्व, अपरत्व आदि घटनाओं के कालजन्य संबंध का संकेत करता है। न्याय-वैशेषिक ने तर्कसंगत आधार पर मीमांसक एवं वेदान्तवादी के सिद्धान्त का खंडन किया है।

श्रीधर के अनुसार काल मूलतः अतीन्द्रिय है, किन्तु विशेषण के रूप में इसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है। यथा "मैं अब टेबुल को देख रहा हूँ" यहां काल प्रत्यक्ष के विषय में विशेषण के रूप में संबंधित है। ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में भी काल विशेषण के रूप में रहता है। "मैं ठंडा बर्फ देखता हूँ" ठंडापन का अनुभव स्पर्श से ही संभव है किन्तु पूर्व अनुभव के आधार पर आंख से ही ठंडापन का अनुभव होता है।[२]

क्या काल विभाग वास्तविक है?

वैशेषिक काल विभाग को स्वीकार नहीं करता है। साधारणतः हम काल को भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में विभक्त करते हैं। काल का

---

१. न्यायमंजरी - भाग - १-पृ० १२४-ननु द्रव्येऽयम् नियमो न रूपादौ द्रव्येऽपि नायम् नियमः यद्रूपवदिति, तदुक्तम्, त्रयानान् प्रत्यक्षत्व रूपवत्त्वद्रव्यादीनिति।

२. न्यायकन्दली - पृ० ६५ - अप्रत्यक्षेण कालेन कथम् विशिष्ट प्रतीतिरिति चेत तचाह कश्चित् विशिष्ट प्रत्ययस्योत्पत्ता विन्द्रियवत् कारणत्वम् कालस्य न तु दण्डादिवद् विशेषणत्वमिति।

व्यवहारिक विभाजन (भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्) से यह प्रमाणित नहीं होता है कि काल में ये विभाजन निहित है। वैशेषिक का मत है कि काल, ये विभाग घटनाओं से संबंधित होने पर प्राप्त करते हैं। इन्हें उपाधि माना गया है जो सीमित अवधि के लिए होता है।[१]

वस्तुत: काल विश्व का आधार है। अत: यह सभी सीमाओं का अतिक्रमण करता है। यह विश्व की घटनाओं से भी परे है।[२]

वर्तमान काल का निर्धारण ऐसी घटनाओं से होता है, जो पहले शुरू हो गया है और अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। भूत ऐसी घटनाओं से संबंधित है, जो समाप्त हो चुकी है। भविष्यत् ऐसी घटनाओं से संबंधित है जो शुरू नहीं हुई है।[३] वास्तविक काल इन उपधियों से प्रभावित नहीं होता है।

न्यायवैशेषिक के काल विभाग की आलोचना श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ खंडन खाद्य खाद्यम् में किया है।[४]

वैशेषिक के अनुसार काल विभाग का निर्धारण बाह्य उपाधि यथा सूर्य की गति के आधार पर होता है। उदाहरणस्वरूप, विशेष वर्तमान दिन विशेष सूर्य की गति के कारण है। किन्तु भूत एवं भविष्यत् का निर्धारण उसी सूर्य की गति पर निर्भर है। दिन, जिसका प्रसंग ऊपर आया है, वर्तमान उसी दिन रहता हे, दूसरे दिन (जो अनुसरण करता है) यह भूत बन जाता है और वर्तमान से पूर्व का दिन भविष्यत् रहता है। एक ही सूर्य की गति तीनों कालों का निर्धारण करता है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक असंगत स्थिति में पड़ जाता है।[५]

श्रीहर्ष न्यायवैशेषिक मतावलम्बियों के विचार का पूर्वानुमान करते हैं। वे कह सकते हैं कि यह कठिनाई संबंध के विशेषण के अभाव के

---

१. ख. ख. खा. - पृ॰ ३७९ - द्वितीयस्ये देशधिरमिधीयताम्

२. किरणावली - पृ॰ १२०-१२१

३. वही -पृ० १२०-२१

४. ख. ख. खा. - पृ॰ ३७९

५. ख. ख. खा. - य एवदिवस: सूर्य्यगति विशेषावच्छिन्नो स एव हि . . . . . .

कारण हुई है। इसे वर्तमान कहते हैं, जब घटनाओं का सूर्य की गति से वास्तविक संबंध रहता है। जब विशेष संबंध था जो अब नहीं है तो उसे भूत कहते हैं। जब संबंध होगा तो उसे भविष्यत् कहते हैं। प्रतिपक्षी का यह तर्क पुनरुक्त है। "वास्तविक" का अर्थ सत् है, जो वर्तमान का पर्यायवाची है। इस प्रकार "रहा है" या "होगा" शब्द भूत एवं भविष्यत् का पर्यायवाची है।

वैशेषिक के अनुसार कार्य द्वारा निर्धारित काल वर्तमान है, कार्य के प्रागाभाव द्वारा निर्धारित काल भूत है और कार्य के ध्वंसाभाव द्वारा निर्धारित काल भविष्यत् है।

श्रीहर्ष का कहना है कि इससे भी वैशेषिक की स्थिति में सुधार नहीं होता है। एक ही क्रिया सभी विभागों का निर्धारण करती है, इस प्रकार विभागों के बीच का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त "प्रागाभाव" एवं "ध्वंसाभाव" ही भूत एवं भविष्यत् का द्योतक है। इस प्रकार वैशेषिक अपने तर्कजाल में फंस जाता है।

इस स्थिति से बचने के लिए वैशेषिक काल विभाग की संशोधित परिभाषा देता है। वह काल जो विशेष क्रिया से निर्धारित होता है, वह वर्तमान केवल उसी क्रिया के लिए है। किन्तु इससे भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं होता है। एक ही क्रिया भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् को निर्धारित करती है। एक कालावधि जो वर्तमान जाना जाता है, एक क्रिया विशेष के संबंधित होने के कारण, वही भूत और भविष्यत् भी है। ऊपर वर्तमान-काल का निर्धारण वर्तमान क्रिया से किया गया है जबकि "वर्तमान" का अर्थ ही मालूम नहीं है। इससे उलझन बढ़ जाती है। वैशेषिक एक काल-क्रम को मानते हैं, अतः यह काल विभाजन, का आधार नहीं हो सकता।[१]

श्रीहर्ष ने न्यायवैशेषिक के काल विभाग की आलोचना की है। काल विभाग काल का स्वभाव गुण नहीं है, अतः यह काल में विकार नहीं उत्पन्न करता है। यद्यपि काल विभाग को श्रीहर्ष ने असत् प्रमाणित

१. ख.ख.खा. - पृ० ३८२ कालस्य ....तदाश्रयवत्त्वे

कर दिया है किन्तु इससे अनुभवातीत काल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। काल विभाग वस्तुतः घटनाओं पर निर्भर है जो काल में स्थित है।

वर्तमान का स्वभाव

न्यायसूत्र एवं भाष्य में काल के तीनों विभाग, यथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् को पूर्ण सत्ता प्रदान करता है। प्रतिपक्ष का विचार है–"वर्तमान नहीं है, क्योंकि जब कोई वस्तु गिरती है तो एक कालावधि वह है जिससे वह वस्तु गिर चुकी है और दूसरी कालावधि वह जिससे गिरने वाली है।[१]

डॉ॰ विद्याभूषण इस सूत्र में माध्यमिक दर्शन के पक्ष का प्रतिपादन पाते हैं।[२] किन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि माध्यमिक दर्शन में काल के तीनों विभागों का निषेध किया गया है जबकि ऊपर केवल वर्तमान के अस्तित्व का ही निषेध है।

नैयायिकों ने इस कल्पित माध्यमिक पक्ष का खंडन किया है और वर्तमान के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। वास्तव में काल का ज्ञान दिक् या आकाश के द्वारा नहीं होता है, बल्कि क्रिया द्वारा काल व्यक्त होता है। वर्तमान प्रसंग में गिरने की क्रिया से काल का निर्धारण होता है। जब गिरने की क्रिया समाप्त हो जाती है तो उसे भूत कहते हैं, जव गिरने की क्रिया होने वाली हो तो उसे भविष्यत् और जब क्रिया हो रही हो तो उसे वर्तमान कहते हैं। ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हैं कि काल की दो स्थिति भूत एवं भविष्यत् में क्रिया नहीं होती है। केवल वर्तमान में क्रिया विषय से संबंधित है। इस प्रकार भूत एवं भविष्यत् वर्तमान से संबंधित हैं। जब वर्तमान नहीं है तो भूत एवं भविष्यत् स्वतः समाप्त हो जाता है।[३]

प्रतिपक्षियों के द्वारा यह कहना कि "भूत" एवं "भविष्यत्" को एक दूसरे के संबंध के आधार पर पूर्णतः नहीं जाना जा सकता है। वे सापेक्ष पद यथा धूप-छाया, लम्बा-छोटा की तरह भूत-भविष्यत् भी

---

१. न्यायभाष्य - II. १.४० नाऽध्वयांग्यः कालः, किम् तर्हि क्रियायंग्यः

२. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लॉजिक

३. न्यायभाष्य - II. १.४१..............चाऽयम् कालः।

सापेक्ष पद हैं इस आधार पर जाना जा सकता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कुछ युग्म पद यथा "सुगंध" एवं "स्वाद", "सर्दी" एवं "स्पर्श" सापेक्ष पद नहीं हैं। इस प्रकार भूत एवं भविष्यत् का निर्धारण सापेक्षता के आधार पर नहीं हो सकता।[१]

इसके अतिरिक्त, वर्तमान को दोनों तरह से समझ सकते हैं–वह वर्तमान जो भूत एवं भविष्यत् से संबंधित है और एक वह वर्तमान, जो नहीं संबंधित है। वह वर्तमान, जो संबंधित नहीं है, मात्र वर्तना या निरन्तरता या सत्ता है। यथा वस्तु है। इस उक्ति से पदार्थ की निरन्तरता का बोध होता है। फिर ऐसी उक्तियां, "रसोई कर रहा है" या "काट रहा है" आदि से वर्तमान का मिश्रित रूप प्रकट होता है। जब हम यह कहते हैं कि वह रसोई कर रहा है" तो इस मिश्रित क्रिया में रसोई की कुछ क्रिया पहले हो चुकी है, कुछ क्रिया हो रही है और कुछ क्रिया होने वाली है। इस तरह "वर्तमान" के मिश्रित रूप भूत एवं भविष्यत् सम्मिलित हैं।[२]

काल का अणुरूप

योगभाष्य के रचनाकार व्यास, क्षण को निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनशील इकाई मानते हैं। इन क्षणों के अतिरिक्त अनन्त काल की वास्तविक सत्ता नहीं है। ये क्षण काल के विकार नहीं हैं क्योंकि विकार बाह्य उपाधि पर निर्भर है। यदि परिवर्तन कालक्रम का प्रतिनिधित्व करता है तो क्षण ही परिवर्तन की इकाई है। सभी भौतिक परिवर्तन को आकाश में अणु की गति में परिणत कर दिया जाता है। एक अणु में कई तन्मात्र होते हैं। तन्मात्र की आकाश में एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक की गति तात्क्षणिक होती है। इसको परिवर्तन की निरपेक्ष इकाई माना जाता है। काल एक आयाम का होता है। दो क्षण एक साथ स्थित नहीं रहते। अतः कोई क्षणक्रम वास्तव में नहीं रहता है। कालक्रम का आधार, वह क्षण जो है और वह क्षण, जो बीत चुका है के बीच पर एवं अपर का संबंध है।

---

१. न्यायभाष्य -II. १.४२

२. वही - II. १.४३

कालक्रम वस्तुतः मानसिक प्रत्यय है। बुद्धि इन विभिन्न क्षणों को एक साथ जोड़ती है। इस प्रकार एक ही क्षण, वर्तमान है। भूत एवं भविष्यत् निरपेक्ष सत्ता नहीं है। किन्तु लक्षण परिणाम में हिस्सा लेता है।[१]

वैशेषिक इस विचार से सहमत नहीं हैं कि काल-क्रम मानसिक प्रत्यय है और यह क्रम विच्छिन्न क्षणों के मानसिक मिलन से बनता है। इस प्रकार का काल्पनिक क्रम अनुभवजन्य चेतना से नहीं प्राप्त होता है।[२] किन्तु योग, क्षण को निरपेक्ष असत् नहीं मानता है। वैशेषिक भी क्षण को सत् मानता है किन्तु इसे निरपेक्ष नहीं मानता है, जैसा कि व्यास मानते हैं। वैशेषिक के अनुसार यह एक सापेक्ष सत्ता है।

वैशेषिक आगे कहता है कि क्षणिक तत्त्व की वास्तविक सत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती है। "घर कई क्षणों तक अस्तित्व में रहता है" इस निर्णय के आधार पर क्षण की वास्तविक सत्ता प्रमाणित नहीं होती है। "हेतु" की अनुपस्थिति में अनुमान भी संभव नहीं है। पर क्या "क्षण" शब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं है? इसका उत्तर है कि यह विज्ञान का अंश है। फिर यह प्रश्न उठता है कि प्रत्येक विज्ञान के लिए एक निर्धारक आधार होना चाहिए। अतः इसके लिए भी एक विशेष आधार चाहिए। वल्लभ का कहना है कि इसका आधार विशेष गति है तथा वियोजन का प्रागाभाव, जो गति का निर्धारक है। प्रत्येक क्षण एक विशेष कालावधि तक ही रहता है, अतः वे अलग-अलग विज्ञान का आधार नहीं हो सकते। दोनों मिलकर विज्ञान का आधार बन सकते हैं। दोनों कैसे संबंधित हैं? प्रत्येक विज्ञान उन्हें साथ ही प्राप्त करता है, इस प्रकार विज्ञान ही संबंधसूत्र है। ऐसे विज्ञान का आधार क्षण है। इस प्रकार हम अपरोक्ष रूप से क्षण के बोध तक पहुँचते हैं"। क्षण कारण का अन्तिम बिन्दु और कार्य का आरंभिक बिन्दु है।[३] वल्लभ क्षण की परिभाषा इस

---

१. योगभाष्य III. ५२ -तस्माद् एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तर क्षणाः सन्तति तस्माद् नास्ति तस्माहारः।

२. न्यायकुसुमांजलि-भाग -२, पृ॰ ५

३. न्यायलीलावती -पृ॰ ४२-४८

प्रकार करते हैं–क्षण वह अन्तराल है जो कारण की सामग्री की पूर्णता एवं काल की उत्पत्ति के बीच होता है।[१]

ऊपर के विचार-विमर्श से न्याय-वैशेषिक के कट्टर वस्तुवादी दृष्टिकोण का पता चलता है। यह मत खंडन करता है कि काल मानसिक प्रत्यय है। यह कालक्रम को भी प्रत्यय नहीं मानता। अत: काल के विषयगत अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह स्पष्टत: कहा गया है कि काल एकिक एवं अविभाज्य है। काल का विभाज्य दिन-रात, घंटा, क्षण आदि बाह्य उपाधि के कारण है। यह क्षण को निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है।

सारांश

वैशेषिक के अनुमान के द्वारा काल की सत्ता को प्रमाणित किया है। काल, विभु, नित्य एवं अनुभवातीत सिद्धान्त के रूप में, प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं होता है। किन्तु यह अतीन्द्रिय काल कम से कम कालिक अनुभव का आधार हो सकता है। काल एकिक है अथवा अनेक, यह जटिल प्रश्न है। लाघव का नियम बतलाता है कि काल को एकिक माना जाना चाहिए जैसा कि दिक् है क्योंकि काल में कोई सीमा, परत्व अथवा अपरत्व निर्धारित नहीं किया जा सकता। काल की सीमा काल में ही होगी। यही दिक् पर भी लागू होता है। कान्ट ने इस कठिनाई को महसूस किया था। कान्ट ने इस तर्क का कि काल अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, खंडन किया है। परत्व, अपरत्व आदि का बोध वस्तुत: कालिक बोध है। वैशेषिक परत्व, अपरत्व आदि के आधार पर काल का अनुमान द्वारा प्रमाण देते हैं। सूर्यगति के आधार पर काल विभाग को प्रमाणित किया गया है। किन्तु संख्या का बोध काल के ही द्वारा संभव है। यदि संख्या को काल से निकाला जाता है तो वैशेषिक के तर्क में आत्माश्रय दोष उत्पन्न होता है। यह निश्चित है कि एकिक तथा नित्य काल अनुभव द्वारा निकाला जाता है। किन्तु काल से नित्यत्व का विलक्षण गुण है जो काल से परे कर देता है। परत्व, अपरत्व आदि गुण के बिना काल का ज्ञान असंभव हो जाता है।

---

१. किरणावली, पृ॰ ११८

कान्ट ने काल को अन्तर्ज्ञान का एक रूप माना है। आन्तरिक एवं बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान का माध्यम माना है। मीमांसक भी इसी स्थिति का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि कोई विज्ञान नहीं है जिसमें काल विद्यमान नहीं रहता है। सभी सामान्य एवं आवश्यक प्रत्यय, कान्ट के अनुसार स्वानुभूतिमूलक हैं किन्तु मीमांसक वस्तुवादी हैं। वे विषयगत सामान्य में विश्वास करते हैं। किन्तु काल सामान्य सत्ता नहीं है। विश्लेषण से पता चलता है कि काल एकिक या एकात्मक है। मीमांसक काल को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानता है। काल सभी अनुभवों का आधार है। श्रीधर, न्यायकंदली के रयचिता, ने काल को प्रत्यक्ष का विषय माना है। इस प्रकार मीमांसक के विचार से श्रीधर भी सहमत हैं।

वेदान्तवादी काल को विभ्रम मानते हैं। ब्रैडले के काल में परस्पर विरोधी गुण के कारण इसे एपीएरेन्स या विभ्रम मानते हें। मैक टेगार्ट भी इसे विभ्रम ही मानते हैं।

प्रत्ययवादियों का जैसा भी मत हो, वह साधारण व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता क्योंकि रोजमर्रे के जीवन में चीजों को स्वाभाविक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। हमारी सारी क्रियायें, विचार आदि काल में तथा काल के माध्यम से संचालित होती हैं। बहुत कठिन है, यदि असंभव नहीं, उस स्थिति के संबंध में सोचना जहां काल नहीं है और जिसके लिए सभी कालिक निर्धारण असंगत हैं। वेदान्त के 'ब्रह्मन्' और बौद्ध का 'निर्वाण' काल से परे माना गया है। वे स्थितियां साधारण व्यक्ति के अनुभव की पहुँच के बाहर हैं। यह स्वीकार करना होगा कि काल एक अद्वितीय तत्त्व है।

दिक् का अस्तित्त्व

काल एवं दिक् इस संसार के आधार हैं।[१]

इस दिक् या आकाश में दो पदार्थ एक साथ एक ही स्थान और समय में नहीं रह सकते। इन्हें अलग-अलग स्थान में रहना है।[२] किन्तु इन

---

१. न्यायकन्दली, पृ० २२-इह सर्वेषामाधार इत्युच्यते।

२. न्यायलीलावती, पृ० ३४-वच्यमे वेतिवत् अयोगव्यच्छेदस्य पदार्थान्तरे भात्वम् नास्तीत्यन्य योगव्यवच्छेदस्य वा विभागार्थत्वात्।

पदार्थों के स्थान निर्धारण के लिए दिक् के अस्तित्त्व को मानना होगा क्योंकि यह काम किसी दूसरे तत्त्व में नहीं हो सकता।

वैशेषिक दर्शन के वस्तुवादी दृष्टिकोण के अनुसार दिक् का विषयगत अस्तित्त्व मानता है और अनुभव से परे है। कान्ट के समान वैशेषिक यह नहीं मानता है कि दिक् सार्वजनीन सिद्धान्त है और प्रत्यक्ष का आवश्यक रूप है। कुछ नैयायिकों का मत है कि दिक् प्रत्यक्ष का विषय है। इसकी पहचान पूर्व, पश्चिम, आदि दिशा के ज्ञान पर आधारित है। कुछ मीमांसक नैयायिक के इस मत का समर्थन करते हैं।

वैशेषिक ने दिक् के प्रत्यक्षीकरण का खंडन किया है। तर्क वे ही हैं, जो काल के प्रत्यक्षीकरण के विरोध में दिये गये हैं। वैशेषिक का कहना है कि नैयायिक के द्वारा "दिक् का प्रत्यक्ष" वस्तुतः कुछ सीमित वस्तुओं के बीच दिक् परक संबंध है। दिक् आत्मानुभूतिजन्य प्रत्यक्ष नहीं है, विषयगत होते हुए भी इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि इसमें रंग और स्थूल आकार नहीं है। इस प्रकार दिक् का प्रत्यक्षज्ञान संभव नहीं है। पूरब, पश्चिम आदि के आधार पर अनुमानजन्य ज्ञान होता है।[१] वैशेषिक के अनुसार दिक् का अनुमान परत्व एवं अपरत्व के आधार पर भी हो सकता है।[२]

दिक् का अस्तित्त्व सीमित वस्तुओं का सूर्य के साथ संबंध के आधार पर किया जा सकता है। जो दिक् उदयाचल के निकट होता है, वह पूरब है। उदयाचल से जो दिक् दूर होता है, वह पश्चिम है। जो सुमेरू पर्वत के निकट है, वह उत्तर है और जो सुमेरू पर्वत से दूर है, वह दक्षिण है। यह विचार भारतीय मिथक पर आधारित है, अतः विशेष दार्शनिक महत्व का नहीं है।

वैशेषिक स्पेस का अर्थ दिक् या दिशा मानते हैं। दिशा का निर्धारण सूर्य की गति से प्रभावित होता है। सूर्य की गति सूर्य में सन्निहित है, अतः इसका कोई संबंध वस्तुओं में नहीं हो सकता है। इस कठिनाई को माध्यम

---

१. प्र० भाष्य, पृ० ६६

२. किरणावली, पृ० १२२-परत्वापरत्वलिंगत्वदिशः।

के द्वारा दूर किया जा सकता है। सूर्य की गति एवं दिक् के बीच अपरोक्ष संबंध है।

प्रश्न है कि माध्यम क्या होगा? कोई भी विभु तत्त्व माध्यम माना जा सकता है। वैशेषिक कई ऐसी वस्तुओं को मानता है–आकाश, आत्मन् एवं काल? उत्तर है कि प्रागानुभव से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। दिक् अनुभव की वस्तु है और अनुभव द्वारा ही इसे जान सकते हैं। काल उन तत्त्वों से संबंधित है, जो गतिशील एवं परिवर्तनशील है। दिक् संबंध काल द्वारा निर्धारित नहीं होता। आत्मा, जो विभु है, वह सभी सीमित पदार्थों से संबंधित है, उसका संबंध बाह्य पदार्थों से है। आत्मा मानसिक घटनाओं से संबंधित है– यथा जानना, अनुभव करना आदि। जहां तक अनुभव का संबंध है, आत्मा का संबंध शरीर के अन्दर से है, बाहर से नहीं। यद्यपि आत्मा को आकाश, एवं काल जैसा विभु माना जाता है किन्तु व्यावहारिक अनुभव इसका समर्थन नहीं करता। दिक् एवं काल में सीमा-निर्धारण करना संभव नहीं है किन्तु आत्मा में सीमा-निर्धारण कर सकते हैं, इस प्रकार आत्मा विभु नहीं है। आत्मा, काल एवं आकाश से भिन्न दिक् को एक अलग पदार्थ माना गया है।

दिक् का अपना विशेष गुण नहीं होता। आकाश का विशेष गुण शब्द है, आत्मा का विशेष गुण जानना, अनुभव करना आदि और काल का परत्व, अपरत्व आदि है। जिस आधार पर वैशेषिक आकाश को दिक् संबंध का माध्यम नहीं मानता है, इसी प्रकार आत्मा भी आधार नहीं हो सकता। इस प्रकार दिक् ही वस्तुओं एवं सूर्य की गति के बीच संपर्कसूत्र है और यह बाह्य वस्तुओं का आधार भी है। दूसरे पक्ष की व्याख्या भौतिक शास्त्र में की गई है।

चित्सुख मानते हैं कि दिक् संबंधी परत्व एवं अपरत्व की व्याख्या के लिए दिक् की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसकी व्याख्या दूसरे तरीके से हो सकती है। चित्सुख मानते हैं कि वस्तुओं के बीच परत्व एवं अपरत्व का संबंध मापने के डंडे से जाना जा सकता है।[१] चित्सुख का

१. चित्सुखी-पृ० ५१७

यह तर्क माना नहीं जा सकता क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष है। किन्तु माप इकाई वस्तुतः दूसरी इकाई है जिनमें संयोग का क्रम है। यह तभी संभव है जब हम दिक् को पूर्व ही मान लें।

दिक् की परिभाषा

दिक् को दूर, नजदीक आदि के कारण माना जाता है।[१] सर्वदर्शन-संग्रह की परिभाषा के अनुसार दिक् काल से भिन्न है। फिर भी सहविस्तृत है तथा गुण विशेष युक्त नहीं है। दिक् दूर एवं नजदीक का कारण है। काल को परत्व, अपरत्व आदि का समवाय कारण माना जाता है।[२] किन्तु सूर्य की परिक्रमा से असम्बद्ध है और परत्व एवं अपरत्व का आश्रय नहीं है। दिक् दिशा का उत्पन्न करने वाला है। ११ दिशाओं का नामकरण सप्तपदार्थि में है। प्रत्येक दिशाके एक प्रतिनिधि देवता हैं।[३]

दिक् की ऊपर की परिभाषा में जाति का उल्लेख नहीं है। दिक् एकिक पदार्थ है। किन्तु जाति के लिए कई पदार्थों की आवश्यकता है। इसलिए जाति का उल्लेख न होना उचित ही है।

दिक् के कुछ गुण

दिक् काल की तरह पदार्थ है क्योंकि यह गुणों का आधार है। दिक् में अनन्त विस्तार, एकात्मकता, अलगाव, संयोग एवं वियोजन का गुण है।

दिक् एक विभु वस्तु है। यह परम महत्त्व है। दिक् सभी विषयों को स्थान प्रदान करते हैं। यह सभी सीमित पदार्थों से संबंधित है। सभी पदार्थों में परत्व एवं अपरत्व का गुण है क्योंकि दिक् विभु है। इस प्रकार दिक् महत् आयाम का है। जब यह दिक् सीमित वस्तुओं से संबंधित रहता है तो इसे भी सीमित माना जाता है। किन्तु यह दिक् का बाह्य रूप है, वस्तुतः दिक् अनन्त है।[४]

---

१. भाषापरिच्छेद-४६-दूरान्तिक दिधीहेतुवेकानित्या दिगुच्यते।

२. सप्तपदार्थि-पृ० ६६-आदित्य संयोगानुत्पाद्य परत्वापरत्वासमवायि कारणाधारः परत्वापरत्वानधिकरणम् दिक्।

३. सप्तपदार्थि -पृ० १८

४. प्र०भाष्य-पृ० ६७-तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणापृथक्कात् संयोग विभागः।

दिक् नित्य है क्योंकि यह एकात्मक पदार्थ है।[१] इसे अंश नहीं होता है, अतः इसका विनाश नहीं होता है। जब दिक् के कुछ असम्बद्ध अंश की बात कहते हैं तो वह विशेष उद्देश्य से है। यह दिक् का स्वाभाविक लक्षण नहीं है।

दिक् एकात्मक है। यद्यपि यह एक है किन्तु इसे पूरब, पश्चिम आदि के रूप में उपाधि के कारण कहते हैं।[२] इन दिशाओं के दिक् में स्थित विषयों के गुण के रूप में माना जाता है। यदि विभिन्न दिशाओं के विभिन्न दिक् मान लिया जाय तो इससे बड़ी कठिनाई उपस्थित होगी। यदि पूरब एक दिक् है और पश्चिम भी एक दिक् है तो इन दोनों के बीच संबंध स्थापित नहीं हो सकता। इस प्रकार दिक् का ज्ञान असंभव हो जायेगा, क्योंकि पूर्व को पश्चिम की पृष्ठभूमि एवं प्रसंग में ही जान सकते हैं। दिक् एवं काल को विश्व का निमित्त कारण माना जाता है। ये विश्व की सभी भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं के उत्पादन का साधन है।[३] काल एवं दिक् के बिना विषयों की कारणात्मक क्रिया संभव नहीं है। विशेष पदार्थ की उत्पत्ति के लिए विशेष उपादान कारण आवश्यक है, किन्तु कार्य में पूर्व कल्पना निहित है कि दिक् एवं काल में इन पदार्थों को स्थान प्राप्त होगा। अतः दिक् एवं काल कार्य की उत्पत्ति के लिए सामान्य उपाधि हैं। इस प्रकार दिक् कालिक उपाधि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण का आन्तरिक लक्षण है।[४]

दिक् काल के समान ही इन्द्रियजन्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकता।[५] ऊपर की उक्ति के समर्थन में वे ही तर्क दिये जाते हैं, जो काल के संबंध में दिये गये हैं। दिक् में गति नहीं है क्योंक यह मूर्त नहीं है। पदार्थों में जो गति होती है, उससे यह

---

१. वैशेषिक उपस्कार II.२.११-दिशो द्रव्यत्वम् परमं नित्यत्वं च।

२. भाषापरिच्छेद–उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदिशभाक्।

३. प्र० पा० भाष्य-सर्वोत्पत्तिमतं निमित्तकारणत्वम् च।

४. न्यायकन्दली, पृ० २५-यत्र देश काले च कारणानि भवन्ति तत्र तेवां जनकत्वं नान्यत्रेत्यभ्युतेव्यं विशिष्ट देशकालयोरगत्वं कार्य जनयात्र तयोःकारणौरपेक्षणीयत्वात्।

५. वैशेषिक उपस्कार- VIII. १.२

विभ्रम पैदा होता है कि दिक् गति का उपादान कारण है। यह गति के आधार पर सीमित रूप से है जिस प्रकार बर्तन दही का आधार है उसी प्रकार दिक् गति का आधार है।[१]

दिक् एवं काल के संबंध में छिटपुट विचार

रघुनाथ शिरोमणि दिक् एवं काल के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानते हैं। वह इन दोनों को ईश्वर की शक्ति मानते हैं। जिन विषयों की व्याख्या दिक् एवं काल के माध्यम से हो सकती है, उन सारे विषयों की व्याख्या ईश्वर से भी हो सकती है।[२]

वेणीदत्त इस विचार का खंडन करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर एक है और भिन्न बोधों की व्याख्या नहीं कर सकती। यह कहना भी अयुक्तिसंगत है कि ईश्वर की उपाधि इसकी व्याख्या करेगी क्योंकि जीवात्मा इसकी व्याख्या नहीं कर सकती। किन्तु उनके अनुसार सभी जीवात्माओं की व्याख्या एक ही चेतन आत्मा से हो सकती है। सभी जीवात्माओं को ईश्वर में समाविष्ट होना चाहिए। श्रुति के ये वाक्य "ईमादेश:" एवं "स एव संवत्सर:" आदि दिक् एवं काल की स्वतंत्र सत्ता को प्रमाणित करते हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि रघुनाथ शिरोमणि के विचार वेदान्त से प्रभावित हैं।

दिक् एवं काल का माप

भाष्कर रचित सिद्धान्तशिरोमणि में काल का माप निम्न प्रकार है:[४]

१०० त्रुटि	१ तात्पर्य
३० तात्पर्य	१ निमेष
१८ निमेष	१ काष्ठा

१. न्यामंजरी, पृ० १२४

२. प०त० निरूपण पृ० १-३

३. पदार्थमंडन, पृ० १-३

४. काल मानाध्याय-श्लोक १६-१७

३० काष्ठा	१ कला
३० कला	१ घटिक
२ घटिक	१ क्षण
३ क्षण	१ अहोरात्र (दिन)

डॉ॰ ब्रजेन्द्रनाथ सील के अनुसार १ त्रुटि बराबर है १ सेकेण्ड के, १/३३७५० यह बराबर है १ परमाणु। (विष्णुपुराण)

सौरशास्त्र के जानने वाले ऊपर के माप को मानते हैं किन्तु भौतिक शास्त्री निम्न माप को मानते हैं[1] –

३० मुहुर्त	१ दिन (२४ घंटे)
३० कला	१ मुहूर्त
३० काष्ठा	१ कला
१८ निमेष	१ काष्ठा
२ लव	१ निमेष
२ क्षण	१ लव

डॉ॰ बी॰ एन॰ सील के अनुसार न्यायवैशेषिक का एक क्षण बराबर है १ सेकेन्ड का २/४५ त्रुटि, बराबर है सेकेण्ड का १/३४०००.[2]

काल, दिक् एवं आकाश में अन्तर

दिक् एवं काल का बोध सापेक्ष है किन्तु दोनों के बीच अन्तर दिखाया जा सकता है। दोनों के बीच अन्तर बहुत ही कम है फिर भी स्पष्ट है। काल का कारण है कालिक परत्व एवं अपरत्व, और दिक् का कारण है दिक् अपरत्व और दिक् कारण दिक् संबंधी परत्व एवं अपरत्व का काल की उपाधि, जो काल में विभाजन का कारण होता है, क्रिया है जबकि दिक् की उपाधि, वस्तुओं के साथ संबंध है।[3]

---

१. किरणावली (उदयन), श्रीधर न्यायकन्दली

२. दि पोजिटिब साइन्सेज ऑफ एनसीयेन्ट हिन्दूज।

३. सिद्धान्तचन्द्रोदय-जन्यमात्रम् क्रियामात्रम् वा कालोपाधिः।

काल स्थिर है यथा जिसको हम वर्तमान कहते हैं, विशेष घटना तो सदा वर्तमान रहती है। किन्तु स्थानिक संबंध परिवर्तनशील है। उदाहरणस्वरूप, जो दिशा एक चीज के लिए पूरब है, वही पश्चिम हो जाएगी, उसी चीज के लिए दूसरे अवसर पर और दूसरी चीज का उसी समय में। काल के विभाग निरपेक्ष हैं किन्तु दिक् के विभाग तुलनात्मक दृष्टि से सापेक्ष हैं। किन्तु ऊपर की उक्ति पूर्णत: सही नहीं है। काल भी उतना ही सापेक्ष है जितना कि दिक्। एक ही घटना एक क्षण के प्रसंग में भूत है तो दूसरे क्षण के प्रसंग में वर्तमान या भविष्यत् है। इसका ऊपर दिखाया गया अन्तर स्थापित नहीं होता है।[१]

न्याय दर्शन में दिक् एवं आकाश का अन्तर स्पष्टत: बतलाया गया है। आकाश शब्द का उपादान कारण है किन्तु काल का इस प्रकार विशेषण नहीं है। काल के संबंध में दिक् भी कार्य का कारण है किन्तु आकाश विशेष कार्य का कारण है। नैयायिकों ने आकाश एवं दिक् के बीच स्पष्ट अन्तर बतलाया है। नैयायिकों ने दिक् एवं आकाश को अलग-अलग तत्त्व माना है क्योंकि आकाश शब्द का उपादान कारण है जबकि दिक् सामान्य कारण है, सामान्य कार्य का।[२]

आकाश का अस्तित्त्व

आकाश का अस्तित्त्व निम्न आधार पर प्रमाणित होता है–

परमाणु अभौतिक बिन्दु माना जाता है। सीमित आयाम की वस्तु इन परमाणुओं से बने होते हैं। किन्तु इन परमाणुओं के समूह से कोई सीमित वस्तु या पदार्थ नहीं बन सकता क्योंकि एक बिन्दु दूसरे बिन्दु को मात्र स्पर्श करता है। ये एक दूसरे से अलग रहते हैं फिर भी वस्तु उत्पन्न होती है। इनका संयोग एक माध्यम के द्वारा होता है। एक विभु तत्त्व ही इनके बीच संबंध स्थापित कर सकता है। यह निस्संदेह माना जाता है कि एक

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह-पृ० १०४ कलकत्ता संस्करण

२. प्र० पा० भाष्य-पृ० २२

विभु तत्त्व हो जो इन विच्छिन्न वस्तुओं को एक साथ जोड़े। यह सातत्यक आकाश ही है।

आकाश का अस्तित्त्व इस आधार पर भी प्रमाणित होता है कि आकाश शब्द का आधार है। दूसरे शब्दों में, "शब्द" आकाश का विशेषण है, जबकि वह अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि का विशेषण नहीं है। इस प्रकार यह अमूर्त वस्तु का विशेषण है। वह अमूर्त वस्तु आकाश है।[१]

अमूर्त पदार्थों में काल, दिक्, एवं मन का विशेषण नहीं है। शब्द इन तीनों का विशेषण नहीं हो सकता। क्या आत्मा में यह विशेषण है? विज्ञान, सुख, दुख आदि आत्मा के गुण हैं। ये गुण आन्तरिक हैं और मन द्वारा इस का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'मैं दुखी हूँ' से पता चलता है कि सुख-दुख अन्त:करण से संबंधित है। शब्द अन्त:करण से नहीं जाना जाता। इस प्रकार शब्द आत्मा का गुण नहीं है।[२] निष्कर्षत: आकाश शब्द का आधार है।

आकाश के कुछ गुण

हमलोग देख चुके हैं आकाश विभु सातत्यक है। साथ ही यह नित्य, अविनाशी एवं अनादि है।[३]

आकाश गतिहीन है। यह एक विभु सातत्यक है। अत: एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। आकाश अतीन्द्रिय है।[४] अत: इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता। इस तर्क के विरोध में आपत्ति की जा सकती है। यह आत्मा को अतीन्द्रिय बना देगा। आत्मा निश्चित ही विभु एवं स्थायी तत्त्व है और इस प्रकार अतीन्द्रिय होना चाहिए। किन्तु आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान मन के द्वारा होता है। क्या यह परस्पर विरोधी नहीं है?

---

१. वैषेशिकसूत्र- VII. १.१२

२. न्यायकंदली-पृ॰ ६०

३. वैशेषिकसूत्र-II १.२८ द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते।

४. वही, VI.I.६- महत्येक द्रव्यवत्तत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धि:।

इसका उत्तर है कि आत्मा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान "मैं" के द्वारा होता है, वह विभु नहीं है। यही कारण है कि वास्तविक आत्मा को न्यायभाष्य में अतीन्द्रिय माना गया है। आकाश, जब सीमित वस्तुओं से संबंधित रहता है तो उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यथा "घटाकाश", "पटाकाश" आदि। यह आत्मा पर भी लागू होता है। वास्तविक आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। कान्ट की तरह न्यायवैशेषिक भी मानता है कि आत्मानुभूति से आत्मा का ज्ञान संभव है।

षष्ठ अध्याय

सांख्य योग में दिक् एवं काल का विचार

सांख्य योग में सृष्टि के विकास के क्रम की व्याख्या करते हुए कहा है कि रजस् की सुषुप्त क्रिया की अभिव्यक्ति ही परिणाम या विकास है। एक तन्मात्र के द्वारा स्थान परिवर्तन ही काल की इकाई है। अणु इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि उसे नंगी आंख से नहीं देखा जा सकता है। इस प्रकार अणु को मात्र बिन्दु माना जाता है, जो बिना आयाम का होता है। अणु का स्थान परिवर्तन ही काल की इकाई है–इसे क्षण कहते हैं और यही विकास की भी इकाई है।[१] भिक्षु के अनुसार क्षण की परिभाषा है कि एक गुण तत्त्व अपने स्थान परिवर्तन में समय लगाता है, वही क्षण है। वे यह भी मानते हैं कि अंशहीन काल की तुलना अंशहीन गुण से की जा सकती है। योगसूत्र एवं योगभाष्य में अणु या परमाणु को पृथ्वी के अणु आदि कहा जाता है। इस प्रकार भिक्षु का तर्क, संगत नहीं है कि अणु का संबंध गुण से है।[२]

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि बाह्य जगत् का परिवर्तन या विकास अणु के स्थान परिवर्तन से होता है। मानसिक जगत् में, परिवर्तन की इकाई अणु के स्थान परिवर्तन की संगति में होती है।

इन विच्छिन्न क्षणों का बोध ही काल का बोध है। अयौग्पद्य आदि

१. योगभाष्य III-५२.-यथाऽपकर्ष पर्यन्तम् द्रव्यं परमाणुरेवम् अपकर्षपर्यन्तः परमाणुः

२. योगसूत्र–परमाणु परमहत्त्वनतोऽस्य।

का बोध (एक क्षण दूसरे क्षण का अनुसरण) को विषयगत अस्तित्त्व नहीं है। यह मानसिक प्रत्यय है क्योंकि दो क्षण एक साथ नहीं रहते, एक क्षण सत् होता है, जबकि दूसरा क्षण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार इन विच्छिन्न क्षणों का क्रम नहीं बनता है। काल का विभाग (घंटा, दिन, रात आदि) मानसिक प्रत्यय है। साधारण व्यक्ति काल के वास्तविक पक्ष को नहीं जानते। वे विभाग को वास्तविक सत्ता के रूप में जानते हैं।[१]

इस प्रकार विच्छिन्न क्षण ही वास्तविक काल है और काल, जो परत्वापरत्व युक्त है, वह विभ्रम है। वाचस्पति इसकी व्याख्या करते हैं। वस्तुओं से मिले हुए क्षण में क्रम का आभास होता है, यह क्रम वस्तु में निहित है। अनुक्रम का अर्थ है, पूर्ववर्त्ती एवं अनुवर्ती के बीच का संबंध। किन्तु वर्तमान क्षण ही अस्तित्त्व में है और भूत एवं भविष्यत् इसमें निहित है। कोई पूर्ववर्त्ती एवं अनुवर्त्ती क्षण नहीं है। विश्व का परिवर्तन एक क्षण में ही होता है। इस परिणाम को लक्षण परिणाम कहते हैं। यह धर्म परिणाम एवं अवस्था परिणाम से भिन्न है। लक्षण परिणाम में अव्यक्त रूप से मूर्तरूप हो जाता है। योगशास्त्र में इसकी विषद् व्याख्या की गयी है।[२]

हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि भिक्षु गुण के स्थान परिवर्तन को काल की इकाई या क्षण मानते हैं। उनके अनुसार संसार क्षणों का क्रम है। किन्तु यह बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद नहीं है क्योंकि यह दर्शन मात्र क्षण की सत्ता को मानता है।

काल अविच्छिन्न क्षण का मानसिक प्रत्यय है। यह हम लोगों के अनुभवजन्य चेतना पर आधारित है। योग सूत्र में कहा गया है–क्षण प्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य क्रमः। किसी कपड़े को पुराना तभी कहते हैं, जब यह क्षणों के क्रम में गुजरता है।[३] एक नया कपड़ा कितनी भी सावधानी से रखा जाय वह कालक्रम में पुराना होगा ही। इस प्रकार परिवर्तन के क्रम का अन्त एवं परिवर्तन का अनुक्रम जाना जा सकता है।

---

१. योगभाष्य-III. ५२

२. वही, III. ५३

३. वही, IV. ३३

ही। वाचस्पति का कहना है कि एक चीज के पुराना होने के पूर्व भी अनुक्रम को जाना जा सकता है, यथा–सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म तथा स्थूलतम, स्थूलतर एवं स्थूल का परिवर्तन।

"क्षणप्रतियोगी" पद की व्याख्या भिन्न-भिन्न तरह से की गयी है। वाचस्पति के अनुसार इसका अर्थ है, क्षण का विकास (क्षणप्रचाश्रय)। भिक्षु ने इसकी व्याख्या दूसरी तरह से की है। क्षण का अर्थ है "अन्तराल" और प्रतियोगी का अर्थ है विरोधी। क्षण प्रतियोगी का अर्थ हुआ–बिना अन्तराल का या निरन्तर। अत: परिवर्तन निरन्तर होता रहता है, अनुक्रम में नहीं। उनके अनुसार पूर्व स्थिति की समाप्ति और नयी स्थिति की उत्पत्ति के बीच का अन्तराल नहीं होता है।

भूत, वर्तमान एवं भविष्य की स्थिति

बौद्ध विज्ञानवादियों के पक्ष का खंडन करते हुए व्यास ने कहा है "भूत एवं वर्तमान वस्तुत: सत्ता में हैं क्योंकि पदार्थों के गुण इन्हीं तीनों तरीके से व्यक्त होते हैं। भूत वह रूप है, जिसका अनुभव पूर्व में हुआ था। वर्तमान अब भी क्रियाशील है। यदि ये तीनों वास्तव में नहीं रहते तो ज्ञान संभव नहीं होता। ज्ञान ज्ञेय की अनुपस्थिति में संभव नहीं है"।[१]

इस प्रकार भूत और भविष्यत् निरन्तर पर या अपर के रूप में स्थित नहीं रहता है, लेकिन वर्तमान इन दोनों को अपने अन्तर्गत बनाये रखता है। वर्तमान भूत का मूर्तरूप है। यदि भूत नहीं हाता तो वर्तमान का अस्तित्त्व असंभव होता। भविष्यत्, जो अभी अस्तित्त्व में नहीं आया है, वर्तमान में अव्यक्त रूप से रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो भविष्यत् कभी भी अस्तित्त्व में नहीं आता। यह कहा गया है–नास्त्यसत: संभव: न चास्ति सतो विनश:। इस प्रकार भूत एवं भविष्यत् वर्तमान में अव्यक्त रूप में विद्यमान है।

इसका अर्थ है कि संपूर्ण विश्व का परिवर्तन एक क्षण में होता है और भूत एवं भविष्यत् वर्तमान में अव्यक्त रूप में वर्तमान रहते हैं। दिव्य

---

१. योगभाष्य IV.12-भविष्यद् व्यतिक्रमनागतम्... तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति।

दृष्टिवाले साधु क्षण में तीनों कालों को देख लेते हैं।[1] सभी चीजें सभी चीजों में है। (योगज प्रत्यक्ष)

भिक्षु इस विचार के हैं कि काल को क्षण मानना काल का निषेध नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है कि काल क्षण के अतिरिक्त वास्तविक सत्ता नहीं है, किन्तु विकास की इकाई के रूप में[2] क्षण सत् है, किन्तु यह भी सत् केवल सविचार प्रज्ञा की सिथति में। निर्विचार प्रज्ञा की स्थिति में शुद्ध सत्ता का ज्ञान रह जाता है जिसमें अनुभवजन्य संबंध, यथा-दिक् काल एवं कारणत्व का बोध नहीं होता।

नागेश योग के काल-विचार के पक्के समर्थक हैं। उनका विचार पतंजलि के विचार से कुछ-कुछ भिन्न है। पतंजलि के समान वे भी मानते हैं कि वर्तमान सत् है किन्तु इससे आगे बढ़कर वे मानते हैं कि काल कोई वास्तविक सत्ता नहीं है सिवा अदृश्य आणविक वर्तमान के।[3] सांख्यप्रवचनभाष्य में कहा गया है कि नित्यकाल एवं दिक् आकाश के स्वभाव का होता है। वे आकाश की तरह ही विभु एवं नित्य हैं। कुछ लोगों की राय में व्यावहारिक काल एवं दिक् की उत्पत्ति आकाश से होती है।

तत्त्वसमास में दिक् एवं काल को प्रकृति के गुण के रूप में माना जाता है और विभु एवं नित्य भी माना जाता है। ए.बी. कीथ ने कहा है- दृश्य जगत् में दोनों (दिक् एवं काल) सीमित दिखाई पड़ते हैं और ईथर से इनकी उत्पत्ति मानी जाती है"।

युक्तिदीपिका में उनके विचार का खंडन माना गया है, जो यह मानते हैं कि जगत् की उत्पत्ति काल पर निर्भर है। इसके रचनाकार काल के अस्तित्त्व को अस्वीकार करते हैं। काल को क्रिया प्रवाह में सीमा उपस्थिति करने वाला माना जाता है, यथा-नाड़ी की गति। इस प्रकार यह

---

१. योगसूत्र-III. ५३

२. योगभाष्य-III. ५१ गुणपरिणामस्यक्षणत्व वचनात्।

३. वै०सि०ल० मंजूषा-पृ० ८४०

(काल) क्रिया को शारीरिक अवयव की गति सांख्य दर्शन मानता है। इस प्रकार "काल" शारीरिक अवयव का ही एक अंग है। निम्न पंक्तियों से इसपर प्रकाश पड़ता है–प्रागेवैतदपदिष्टम् न कालो नाम कश्चित् पदार्थोऽस्ति। किं तर्हि क्रियासु काल संज्ञा। तस्मात् करण चैतन्य प्रतिज्ञः कलात्मक इति (युक्तिदीपिका-पृ॰ १५८)। इस ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि काल एक उपकरण नहीं है, जो किसी पदार्थ में परिवर्तन नहीं होता है। वे कहते हैं-कालस्तु संबंध मात्रोपकारी न विक्रिया हेतुः।

दिक् की अवधारणा

दिक् हम लोगों से दूर कोई पदार्थ नहीं है। डॉ॰ सील के अनुसार "स्पेस को दिक् या देश से भिन्न माना जाना चाहिए। दिक् का अस्तित्त्व मानव मस्तिष्क पर निर्भर करता है। कालक्रम भी मानव मस्तिष्क पर ही निर्भर है।"

डॉ॰ सील के अनुसार सांख्ययोग दिक् को विषयगत सत्ता प्रदान करता है किन्तु काल में इसका अभाव बताता है। किन्तु यह विचार युक्ति संगत नहीं है। गुण मन का अंग है, और इसमें विस्तार नहीं है। इसके अतिरिक्त दिक् संभव है केवल सह-अस्तित्त्व वाले बिन्दुओं के क्रम के रूप में। सांख्ययोग दोनों ही तत्त्वों को समान दर्जा देता है। दिक् विस्तार का मात्र विकास है।[१]

दिक् एवं काल–औपाधिक घटक

गुण के दृष्टिकोण से पदार्थों में कोई अन्तर नहीं होता, वे एक दूसरे दिक्, काल, रूप एवं कारणत्व के आधार पर भिन्न हैं। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया दिक् एवं काल के द्वारा नियमित होती है। यह कहा जाता है कि एक ही पल में परिवर्तन दिक् एवं काल के आधार पर होता है। योगभाष्य में कहा गया है–दो अमलक फल, एक लक्षण के, अलग ढंग से विकसित होते हैं क्योंकि वे दो स्थान पर होते हैं।[२]

१. स्टडी ऑफ योग-घोष

२. योगभाष्य-III. ५३

तत्त्ववैशारदी में कहा गया है–"गर्मी में वर्षा नहीं होती अतः धान की फसल इस ऋतु में नहीं होती है।"[१] इस प्रकार दिक् एवं काल विकास की प्रक्रिया को नियंत्रित एवं संचालित करते हैं।

आकाश का लक्षण

सांख्ययोग में आकाश को विभु एवं अनावरोधक माना है। यह सामान्य आधार है, जिसमें सभी पदार्थ स्थित हैं और स्वच्छन्दतापूर्वक चलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिना अवरोध की गति का आकाश को माध्यम मानना अनिवार्यता है। इस उक्ति का खंडन न्यायवैशेषिक के द्वारा किया जाता है। किन्तु भारतीय दर्शन में आकाश को सभी पदार्थों का माध्यम मानने पर सहमति है।

भिक्षु के अनुसार आकाश दो प्रकार के हैं–कारण आकाश एवं कार्य आकाश। किन्तु यह कारण आकाश कार्य आकाश में परिणत हो जाता है और इसका गुण शब्द है। कार्याकाश शून्य नहीं है। यह एक विभु तत्त्व है और आधुनिक भौतिकशास्त्री का "इथिरियल स्पेस" है। अतः भिक्षु के अनुसार दिक् एवं आकाश भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

समीक्षा

सांख्य योग के मतानुसार काल का लक्षण परिवर्तनशील है और मानसिक प्रत्यय पर निर्भर करता है। बाह्य काल का भिन्न अस्तित्त्व नहीं है। यह मानसिक प्रत्यय है। गणितीय काल हम लोगों की उपज है।

युक्तिदीपिका के रचनाकार काल के अस्तित्त्व को नहीं मानते हैं। वे शारीरिक क्रिया से काल को संबंधित करते हैं। भौतिक काल एवं शारीरिक काल को भिन्न मानते हैं। शारीरिक काल अवयव के विकास एवं विनाश से संबंधित है। कुछ परिवर्तन लयात्मक है, यथा–हृदय की धड़कन। यह शारीरिक काल सौर्य काल से मापा नहीं जा सकता।

---

१. तत्त्ववैशारदी-III. १४

घटनाओं को दिन या रात के रूप में मापते हैं। किन्तु यह शारीरिक लय पर लागू नहीं होता क्योंकि शारीरिक प्रक्रिया आन्तरिक काल पर निर्भर है। वस्तुत:, कैलेन्डर की उम्र से शारीरिक उम्र भिन्न है। शारीरिक अवयवों की गति ही शारीरिक काल है। युवापन विभिन्न व्यक्ति विभिन्न समयों पर प्राप्त करते हैं। वास्तविक उम्र शारीरिक अवयव की क्रियाशीलता पर निर्भर है। कुछ बड़ी उम्र तक युवा रहते हैं और कुछ व्यक्ति असमय बूढ़े हो जाते हैं। शरीरिक काल की माप बाह्य काल से नहीं हो सकती।

सप्तम अध्याय

मीमांसा में दिक् एवं काल का विचार

कर्म में काल निहित है। कर्म काल के द्वारा नियंत्रित होता है।[१] वैदिक ऋचाओं की व्याख्या करते हुए, वे काल के नियम या जीवन के नियम के बारे में कहते हैं।[२] जीवन के नियम सभी जानवरों में लागू होते हैं तथा नियम, काल और दिक् से प्रतिबंधित नहीं होते हैं।

जैमिनीसूत्र के अनुसार काल कर्मफल के कारण नहीं हैं। प्रयत्न से ही फल उत्पन्न होता है। श्रुति ने कहीं भी काल को प्रमुख कारण नहीं माना है क्योंकि मात्र कालक्रम में फल उत्पन्न नहीं होता है। केवल काल का संकेत किया जा सकता है। यदि प्रयत्न करने के बाद भी फल की प्राप्ति नहीं होती है तो हम काल को असफलता का कारण मानते हैं। क्षय, मृत्यु आदि काल के कारण होते हैं, प्राचीन मत के अनुसार काल क्षय, मृत्यु, असफलता आदि से संबंधित है। इस प्रकार काल जीवन के कृष्णपक्ष से संबंधित है। काल का काम किसी वस्तु या व्यक्ति को दूरवस्था की ओर पहुँचाना है। इस ग्रंथ के अनुसार सभी घटनाएँ प्रेरक शक्ति से घटती हैं और उसमें काल का कोई सहयोग नहीं है।[३] परिवर्तन का संबंध काल एवं प्रकृति दोनों से ही है। काल का प्रश्न नई चीज के

---

१. जैमिनीसूत्र-II. ४.२७-सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेत्स्यात्।

२. वही, II. २.११-सूक्तवाके च कालवधिरिति चेत्।

३. वही, II. ३.२८

उत्पन्न होने के समय उठता है। इस ग्रंथ में "अपरिमेय" शब्द आया है। यह हमेशा काल का संकेत करता है या काल ही अपरिमेय है क्योंकि यह अनादि और अनन्त है। श्रुति में पुत्र के जन्म का विचार इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि काल का विभाजन और उपविभाजन हो सकता है। बुद्धि के द्वारा काल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के लक्षण के माध्यम से काल का ज्ञान प्राप्त होता है।

मीमांसा के अनुसार काल ईश्वर का प्रतिरूप नहीं हो सकता। ईश्वर सृष्टि की रचना करता है और इसका पालन करता है। काल सदा ही इन गुणों से विभूषित नहीं रहता है। काल विश्व का संहारकर्त्ता है।[१] काल की यह अवधारणा धार्मिक ग्रंथों में भी मिलती है। यह तर्क दिया जा सकता है कि काल को चीजों की शुरुआत में ईश्वर के सदृश्य माना जा सकता है। इसका उत्तर है कि उस अवस्था में काल के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार ईश्वर का प्रतिरूप नहीं माना जा सकता है।

काल विश्व के सभी पदार्थों को प्रभावित करता है। जब जीवन शुरू होता है किन्तु अपने आप अप्रभावित रहता है। इस प्रकार काल दूसरे पदार्थों के लिए है, अपने लिए नहीं। इसकी तुलना सांख्य की प्रकृति से की जा सकती है।

काल विभाजन के लिए कहा गया है कि यह जमे हुए मक्खन के समान है, जिसे दही और मक्खन दोनों ही कहा जा सकता है। इसी तरह काल विभाजित और अविभाजित भी है।[२]

काल का अबाधित प्रवाह इच्छा की अविच्छिन्न कड़ी जैसे है, जिसमें एक इच्छा से दूसरी इच्छा उपजती है। सूत्र में स्पष्ट है कि काल सृष्टि का कारण नहीं है।[३] इस विचार का प्रतिपादन गीता से भी स्पष्ट होता है, जहाँ भगवान् कृष्ण ने कहा है कि वे सृष्टिकर्त्ता हैं।[४]

१. जैमिनीसूत्र-IX. २.५२-६०

२. वही, X. ६.६४

३. वही, X. ८.६९-७०

४. महर्षय: सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा: प्रजा:। भगवद्गीता-X. ७

धार्मिक ग्रंथों में व्याख्या करते हुए कहा गया है कि संख्या १२ काल के प्रसंग में है। प्रो॰ थडानी कहते हैं काल का संबंध सूर्य से है, संख्या १२ काल के प्रसंग में है। यह वर्ष तथा इसके ऊपर की गणना में आता है। बड़ी गणनाएें १२ का गुणनखंड हैं।

काल का संबंध प्रकृति से है क्योंकि दोनों ही परिवर्तन के कारण हैं। ग्रंथ कहता है, द्वादश शतम् जिसका अर्थ है ११२ या १२००। ये दोनों प्रकृति या काल प्रवाह से संबंधित है।

प्राचीन मत में काल का विभाजन युग, मन्वन्तर एवं कल्प करते हैं। युग चार हैं। युग से ही मन्वन्तर एवं कल्प बनते हैं।

मीमांसा के दो स्कूल प्रभाकर एवं कुमारिल के अनुसार पदार्थ वह है जिसमें गुण रहता है। वे काल को पदार्थ मानते हैं।[1]

कुमारिल के श्लोकवार्तिक में काल को एक, नित्य एवं विभु माना गया है।[2] काल, यद्यपि विभु है, किन्तु उपाधि के कारण यह सीमित है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका विभाजन होता है।[2]

न्यायवार्तिक के अनुसार "काल आदि वेद के समान नित्य हैं।" प्रभाकर काल को भी नित्य मानते हैं।

काल का प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रभाकर के अनुसार आकाश आदि (काल के साथ) का प्रत्यक्ष संभव नहीं है क्योंकि यह देखा, सुना और स्पर्श नहीं किया जा सकता। प्रभाकर रंग आदि को प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं। काल का बड़ा आयाम है किन्तु इसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। क्योंकि इसमें रंग आदि नहीं हैं।[3] इस विचार का प्रतिपादन न्यायवैशेषिक भी करता है।

भट्ट स्कूल के अनुसार यदि काल प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक नहीं है तो काल के अस्तित्त्व को प्रमाणित करना असंभव है क्योंकि प्रत्यक्ष के

---

१. मानमेयोदय, पृ॰ १४९ परिमाणगुणाधारं द्रव्यं द्रव्यविदो विदुः।

२. श्लोकवार्त्तिक, पृ॰ ८०६.२

३. प्रकरण, पृ॰ २४-२६

अतिरिक्त प्रामाणिक ज्ञान का श्रोत नहीं है। प्रतिपक्षी का कहना है कि विशेष गुण के आधार पर काल का अनुमानजन्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। काल का अनुमान "यौगपद्य" आदि के आधार पर किया जा सकता है। इसका उत्तर भट्ट मीमांसक देते हैं कि यौगपद्य आदि से काल का अनुमान नहीं कर सकते हैं क्योंकि इस हेतु में काल निहित है। यदि यौगपद्य को हेतु माना जाय तो इसमें आत्माश्रय दोष होता है। "यह सुबह है" या "यह संध्या है" से प्रमाणित होता है कि आंख से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इससे प्रमाणित होता है कि काल का ज्ञान छ: ज्ञानेन्द्रियों से होता है।[१] फिर काल में रंग के अभाव से यह प्रमाणित नहीं होता है कि यह अगोचर है। यह संयोग है कि कुछ पदार्थ जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है, उनमें रंग होता है और दूसरे में नहीं। इस प्रकार प्रतिपक्षी के तर्क में असंगत सामान्यीकरण का दोष है।

इस प्रकार भट्ट मीमांसक ने काल को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक माना है।

दिक् का प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रभाकर मीमांसक शालिकनाथ के अनुसार काल के समान दिक् भी प्रत्यक्ष ज्ञान से परे है, यद्यपि इसे महत् आयाम है। दिक् में रंग तथा स्पर्श नहीं है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक शर्त है।[२] नारायण जो भट्ट मीमांसक हैं, मानते हैं कि दिक्, काल की तरह प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक है। वे कहते हैं कि सामने, पीछे आदि चाक्षुष प्रत्यक्ष पर निर्भर है, उनमें दिक् सन्निहित है। दिक् का अनुमान उतना ही हास्यास्पद है जितना कि घट का अनुमान जबकि ये हमारी आंख के सामने हैं।[३] पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि दिक् एवं काल प्रत्यक्षज्ञानात्मक हैं, क्योंकि ये पदार्थों के विशेषण हैं।[४]

इस प्रकार भट्ट मीमांसक दिक् को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक मानते हैं।

---

१. मानमेयोदय, पृ० १८९-९०

२. प्रकरण, पृ० २४-२६

३. मानमेयोदय, पृ० १९०-एवम् दिसोऽपि... नेननिराकणीयम्।

४. शास्त्रदीपिका, १४०, १४५, १४६,

आकाश का स्वभाव

न्यायवैशेषिक के समान मीमांसा भी दिक् एवं आकाश में अन्तर मानता है। शालिकनाथ, प्रभाकर के विचार का प्रतिनिधित्व करते हुए, मानता है कि आकाश का शब्द के आधार के रूप में अनुमान किया जाता है।[१]

कुमारिल के अनुसार आकाश नित्य, अविभाज्य एवं विभु है। वे शंकर के विचार का खंडन करते हैं कि "आकाश की उत्पत्ति आत्मा से होती है।" मानमेयोदय में कहा गया है, "पदार्थ (आकाश सहित) नित्य है क्योंकि वह आत्मा की तरह अविभाज्य है"।[२]

आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रभाकर के अनुसार आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि आकाश में रंग का अभाव है। अगर इसमें रंग होता तो आकाश मूर्त्त होता क्योंकि रंग और मूर्त्तता साथ-साथ रहती है। आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है।[३]

कुमारिल के अनुसार यदि आकाश को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक नहीं माना जाय तो इसको जानने के लिए कोई तर्कसंगत ज्ञान का श्रोत नहीं है।[४] प्रभाकर का उत्तर है कि आकाश का विशेष गुण शब्द है और आकाश इसका आधार है। प्रभाकर के अनुसार अनुमान के द्वारा आकाश का ज्ञान होता है और अनुमान तर्कसंगत ज्ञान का श्रोत है।

कुमारिल का कहना है कि शब्द स्वतः बोधगम्य है। यदि इसे विशेषण माना जाय तो यह आकाश के अस्तित्त्व को प्रमाणित नहीं करता है क्योंकि लाघव का नियम बतलाता है कि प्रमाणित पदार्थ में एक अधिक गुण मानना कहीं अच्छा है वनिस्पत एक अप्रमाणित पदार्थ को मानना। इसके अतिरिक्त सभी सहमत हैं कि आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान

---

१. प्रकरण, पृ० १४५

२. मानमेयोदय, पृ० १८६

३. प्रकरण, पृ० १४३

४. मानमेयोदय, पृ० १८७

होता है। अनुमान, जो इसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं मानता, तर्कसंगत नहीं है।

आकाश एवं शब्द

आकाश को प्रभाकर शब्द का आधार मानते हैं। वे शब्द को पदार्थ नहीं मानते हैं। वे शब्द को विशेषण मानते हैं जो पदार्थ में रहता है। किन्तु कुमारिल शब्द को पदार्थ मानते हैं। ये विशेषण नहीं हो सकते क्योंकि ये आधार स्वतंत्र एवं प्रत्यक्ष रूप से जाने जाते हैं। कुमारिल के अनुसार शब्द को विशेषण के बदले पदार्थ मानना अधिक युक्तिसंगत है।[१]

१. मानमेयोदय, पृ॰ २१८
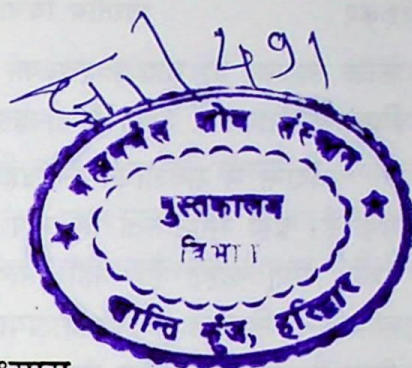
अष्टम अध्याय

वेदान्त में दिक् एवं काल का विचार

ब्रह्मसूत्र के अनुसार सृष्टि के क्रम से पता चलता है कि जगत् काल में है।[1] काल का विशिष्ट गुण अनुक्रम है। सृष्टि की रचना में भी अनुक्रम है। इस अनुक्रम के आधार पर कह सकते हैं कि सृष्टि का विकास काल में है, काल से परे नहीं है। ब्रह्म विश्व का आधार है और सृष्टि काल में एक घटना मात्र है। सृष्टि एवं प्रलय कालक्रम है।

जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना एक कालिक अनुक्रम है। जीवात्मा द्वारा प्रत्येक जन्म-मरण में संचित अनुभव काल में एक घटना है। सभी वेदान्त प्रस्थान एक बात पर सहमत हैं कि सभी मुक्त जीवात्मा कालिक जगत् से परे है। इस प्रकार जीवात्मा का निवास कालिक जगत् में है।

"नित्य" शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। "नित्य" का एक अर्थ है अनन्त काल तक बने रहना। "नित्य" का दूसरा अर्थ है, काल से परे। नित्य का अर्थ है कालातीत, फिर भी काल इसमें किसी तरह रहता है।[2]

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि नित्य एवं अविकारी ब्रह्म किस प्रकार सृष्टि का आदि कारण है? पर एवं अपर इस बात का द्योतक है कि यह

१. ब्रह्मसूत्र-II. ३.४ एवं १४

२. पिंगले पैटिसन-दि आयडिया ऑफ गॉड

काल सम्बन्ध है। ब्रह्म विश्व का पूववर्ती है तथा एक विशेष समय में विश्व अस्तित्त्व में आता है तो ब्रह्म को काल से परे नहीं माना जाएगा।

वेदान्त में सर्वशक्तिमान ब्रह्म तथा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म में अन्तर बताया गया है। ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता के रूप में, कालक्रम के अन्तिम छोर पर है, जिसे जगत् कहते हैं। यहाँ नित्य ब्रह्म और कालिक जगत् के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्म तीसरे अर्थ में नित्य है। इसकी व्याख्या ऊपर की गयी है। ब्रह्म काल से परे है फिर भी किसी तरह काल में है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् के बीच पूर्ण तादात्म्य सम्बन्ध है। अत: जगत् (दिक् एवं काल युक्त) को मिथ्या माना है। माया के द्वारा कालिक एवं स्थानिक जगत् की व्याख्या होती है। किन्तु इस जगत् के अस्तित्त्व को अस्वीकार करना आसानी से संम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा का स्थानान्तरण है। इन दोनों के आधार पर काल को वास्तविक तत्त्व मानना ही होगा। ब्रह्म को नित्य इसलिए माना गया है कि ब्रह्म अनन्त काल तक रहते हैं।

अत: ध्यान रखना आवश्यक है कि विश्व का विकासक्रम काल में है। जगत् का कालिक क्रम ब्रह्म में है। इस प्रकार ब्रह्म कालातीत हैं। फिर भी काल ब्रह्म में है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही परम सत्ता है। ब्रह्म कालविहीन, दिक्-विहीन एवं कारणविहीन है। दिक्, काल एवं कारण को अनुभाविक धारणाऐं माना गया है। ये धारणाएं बहुलता की अपेक्षा रखती है। यह "बहुलता" अविद्या के कारण है। अविद्या ही सभी अनुभवजन्य ज्ञान के मूल में है।[१] इस प्रकार काल, दिक् एवं कारणत्व की प्रतिभासिक सत्ता है। इन धारणाओं का प्रभाव बाह्य वस्तुओं पर है। ब्रह्म इन धारणाओं से परे है। इसीलिए ब्रह्म पर काल का प्रभाव नहीं है। ब्रह्म नित्य है। ब्रह्म कालविहीन सत्ता है।[२] ये भूत, वर्तमान, और भविष्यत् से परे है। इस प्रकार यह अकालिक या कालविहीन है।[३] यद्यपि ब्रह्म नाम-रूप जगत् का आधार है फिर भी ब्रह्म से भिन्न है। सभी परिवर्तन नाम रूप में ही होता है। इस प्रकार ब्रह्म कालिक अनुक्रम से परे है।

---

१. शांकरभाष्य II. १४-वाह्यानाम् उन्योन्य परिच्छेद्यत्वम्।

२. वही, III. २.१९-४०

३. वही, माण्डूक्य, I.१

चित्सुख, वेदान्त दर्शन प्रवक्ता, ने काल की विशद् व्याख्या की है। चित्सुख के अनुसार काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है क्योंकि काल के रंग एवं स्पर्श नहीं हैं। यह मन से भी नहीं जाना जा सकता है क्योंकि मन बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करता है। इसका अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि इसके लिए प्रत्यक्षज्ञानात्मक आधार नहीं है।

काल परत्व, अपरत्व, यौगपदय, अयौगपद्य आदि के आधार पर अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि ये सभी स्थान पर और सभी समय में वर्तमान नहीं रहते जैसा कि होना चहिए। नैयायिक के अनुसार वह वस्तु जो सांसारिक चीजों और सूर्य की गति से सम्बन्ध स्थापित करता है, वह काल है। सभी चेतन आत्मा कारण है, घटनाओं एवं चीजों में काल को व्यक्त करने के लिए काल को मानना आवश्यक नहीं है। परत्व एवं अपरत्व का बोध भी काल की अपेक्षा नहीं करता है। ये बोध कम या अधिक सूर्य की परिक्रमा से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार काल को अलग सत्ता के रूप में मानना व्यर्थ है।

उपनिषदों में भी काल पर विचार किया गया है और काल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चर्चा है। ब्रह्म को काल का निर्माता माना गया है। ये धर्मग्रंथ मानते हैं कि काल एवं सृष्टि समसामयिक हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार काल सदा घटनाओं से सम्बन्धित रहता है। काल स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। यह घटनाओं पर निर्भर है। शंकर के अनुसार काल घटनाओं के स्वभाव पर निर्भर है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है- "काल दिक् की तरह बाह्य वस्तुओं पर निर्भर है।" वेदान्त रिक्त काल की कल्पना नहीं करता है। इसके अनुसार घटनाओं से अलग काल का अस्तित्त्व नहीं है।

निष्कर्षतः काल को देशिक क्रम या देश या दिक् में सुसज्जित वस्तुओं से सम्बन्ध रखना होगा। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है- "काल दिक् एवं कारणत्व स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। हमलोग काल, दिक् एवं कारणत्व में एक विचित्र गुण पाते हैं कि ये सभी चीजों से अलग नहीं रह सकते। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त काल एवं दिक् की आत्मनिर्भरता

एवं अन्तर का सम्बन्ध बतलाता है। किसी दूसरे भारतीय दर्शन में काल के इस पक्ष पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार दिक् एवं काल का सम्बन्ध भौतिक विश्व से है। स्वामी जी कहते हैं-" यह (दिक् को) सम्बन्धित करना होगा किसी वस्तु से और इसी प्रकार काल को भी। इस प्रकार वेदान्तवादी दिक् एवं काल को निरपेक्ष सत्ता मानते हैं जिसे नैयायिक वस्तुवादी नहीं समझ सके।[१] यह दृष्टिकोण आधुनिक वैज्ञानिक दार्शनिक के विचार से मिलता है।

अद्वैत वेदान्तवादी काल के प्रत्यक्ष ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। किन्तु साथ-साथ यह भी कहते हैं कि वर्तमान काल वस्तुओं में विशेषण के रूप में प्रत्यक्ष द्वारा जाना जा सकता है।[२]

रामानुज के अनुसार काल उचित पदार्थ है। काल को अलग दर्जा दिया है।[३] मेघनादारी, रामानुज स्कूल के सदस्य ने काल को अलग पदार्थ नहीं माना है। उन्होंने दिखलाया है कि रामानुज का भी यही विचार है। वे मानते हैं कि काल का बोध सूर्य का पृथ्वी के साथ सम्बन्ध पर निर्भर है। डा० दासगुप्त के शब्दों में दिक् के विभिन्न स्थान काल के सदृश हैं, जिसका सम्बन्ध सूर्य की विभिन्न स्थितियों से है।"

वेंकटनाथ ने कहा कि वैशेषिक का यह मत कि काल का अनुमान सूर्य की परिक्रमा और परत्व एवं अपरत्व के आधार पर किया जा सकता है, तर्कसंगत नहीं। है। यदि सूर्य की गति को काल का आधार समझा जाता है तो वह परत्व एवं अपरत्व की व्याख्या नहीं कर सकता। हमलोग यह भी मानते हैं सूर्य की गति एवं वस्तु साथ-साथ हैं। कम या अधिक सूर्य की गति से भी इसकी व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि कम या अधिक गति में काल निहित है। कान्ट बतलाता है कि गणना में भी काल निहित है। अत: सूर्य की गति की संख्या या परत्व एवं अपरत्व के आधार

---

१. दि कम्पलीट वर्क्स, पृ० १३५-३६

२. दि सिक्स वेज ऑफ नोइंग–डा० दत्त

३. रामानुज भाष्य, I. १.२

पर काल का अनुमान में आत्माश्रय दोष है। इसके अतिरिक्त अगर काल का अनुमानजन्य ज्ञान प्राप्त हो तो बिल्कुल बोधगम्य नहीं है। यदि अनुभव मापदंड हो तो अगोचर काल की पूर्व कल्पना का कोई आधार नहीं है। लोक काल को परत्व एवं अपरत्व के आधार पर अनुमान नहीं करते हैं। इसके विपरीत हमलोगों ने अभी देखा है कि परत्व एवं अपरत्व भी कालिक हैं। अत: यह स्वीकार करना होगा कि काल आत्मानुभूति का विषय है। काल प्रत्यक्षज्ञानसंसम्भव है। किन्तु कान्ट की तरह काल मानसिक प्रत्यय नहीं है। सभी प्रत्यक्ष वस्तु का विशेषण है। प्रत्यक्ष में यह क्षण है। प्रत्यभिज्ञा में, यह कालावधि, यथा दिन, रात आदि के रूप में जाना जाता है। प्रत्यभिज्ञा में किसी पदार्थ का ज्ञान पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होता है।

इस प्रसंग में एक आपत्ति की जा सकती है, बड़ी कालावधि, यथा दिन या वर्ष का ज्ञान कैसे सम्भव है? यह प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष मात्र वर्तमान क्षण से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त काल, एक, विभु, नित्य, अनादि एवं अनंत है। भूत और भविष्यत् का ज्ञान एक एवं नित्य काल से कैसे सम्भव है? इससे मानना होगा कि काल का विभाजन सूर्य की गति पर निर्भर है। वर्तमान क्षण का ज्ञान वर्तमान तथ्य पर आधारित है। वर्तमान काल का ज्ञान वर्तमान आधार में निहित है। आधुनिक काल में, हमलोग काल के सम्बन्ध में घड़ी की सुई से जानते हैं। वैशेषिक का यह मत कि काल का ज्ञान बाह्य वस्तुओं की गति पर निर्भर है, घड़ी की सुई की ओर एक संकेत है।

उत्तर में कहा जा सकता है कि जब किसी वस्तु का हमें प्रत्यक्षज्ञान होता है तो साथ-साथ काल का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सूर्य एवं घड़ी की सुई से प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिक दार्शनिक भी काल को एक एवं नित्य मानते हैं। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् का विभाजन बाह्य उपाधि के कारण होता है। वैशेषिक के अनुसार भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल

बाहर से आरोपित हैं जबकि वेंकटाचार्य के अनुसार काल का यह स्वभाव गुण है। यादव प्रकाश भी इस विचार का समर्थन करते हैं।[१]

काल सतत् परिवर्तनशील है, क्षण के रूप में। किन्तु इसका स्वत: प्रत्यक्षीकरण सभव नहीं है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् का निर्धारण का प्रत्यक्ष तभी संभव है जब बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा में पूर्व का प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। यह नहीं कहा जा सकता है कि भूतकाल, दिन, महीना या वर्ष का भूत में हुआ था और प्रत्यभिज्ञा में होता है, क्योंकि वर्तमान क्षण का ही प्रत्यक्ष सम्भव है, दिन या वर्ष जैसी बड़ी अवधि का नहीं। आपत्ति का निराकरण इससे सम्भव है कि काल का प्रत्यक्ष उपाधि के साथ-साथ होता है। जब प्रत्यभिज्ञा होती है तो काल के साथ सूर्य की गति का भी ज्ञान होता है। हम अनुभव के आधार पर भी इसे जानते हैं। वेंकटाचार्य का कहना है कि मात्र बाह्य पदार्थों की गति का ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता बल्कि उसके साथ-साथ काल का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि काल का प्रत्यक्षज्ञान नहीं है तो काल एवं सूर्य की गति के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान कैसे सम्भव है? प्रत्येक अनुमान में हेतु एवं साध्य के बीच व्याप्ति का सम्बन्ध आवश्यक है। इस प्रकार काल का अनुमानजन्य ज्ञान सम्भव नहीं है।

बौद्ध दार्शनिकों[१] द्वारा आपत्ति उठायी गयी है कि यह कहना कि काल का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है, बिल्कुल ही युक्तिसंगत नहीं है। यह तर्क दिया जाता है कि प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त प्रत्यक्ष वर्तमान का निर्धारण करता है। माध्यमिक का मत है कि वर्तमान को भूत एवं भविष्यत् से अलग नहीं किया जा सकता। अत: वर्तमान क्रिया को अलग नहीं कर सकते। यथा–एक आदमी जा रहा है, निरर्थक है। जितनी जमीन वह चल चुका है, वर्तमान की क्रिया का विषय नहीं है और जिस जमीन तक वह अभी तक नहीं चला है। वह भी वर्तमान का विषय नहीं

---

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, पृ० ६२५–अत: कथं कालप्रत्यक्षत्वम्?

है, इस प्रकार कोई स्थान ऐसा नहीं है जिसमें वर्तमान क्रिया हो सकती है।[१] वर्तमान विभ्रम है। वर्तमान के समाप्त होते ही, भूत एवं भविष्यत् भी स्वत: समाप्त हो जाता है। काल अज्ञानियों का भ्रम मात्र है।

वेंकट का प्रश्न है-"वर्तमान के अस्तित्त्व को कौन अस्वीकार करता है?" यदि माध्यमिक ऐसा करते हैं तो उससे हमलोगों का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे सारी चीजों के अस्तित्त्व को अस्वीकार करते हैं। "शून्यता" का सिद्धान्त यद्यपि माध्यमिक दार्शनिकों की कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है, फिर भी इस सिद्धान्त को प्रमाणित करना असम्भव है। माध्यमिक तार्किक प्रमाण पर विश्वास नहीं करते हैं अत: वे अपने में कोई प्रमाण नहीं दे सकते। नागार्जुन मात्र एक ही प्रमाण देते हैं कि तर्क में आत्माश्रय दोष नहीं होना चाहिए। किसी भी तर्क का संगत होना इस पर निर्भर करता है कि वे परस्पर विरोधी नहीं हों। इस प्रकार विरोध का अभाव ही मापदंड है। जो माध्यमिक के लिए तर्कसंगत है, वही इसके लिए भी होना चाहिए। क्या तुम शून्यता के सिद्धान्त में विश्वास करते हो? उत्तर "हाँ" में होने पर उसे यह मानना होगा कि यह "तर्कसंगत" है और कल्पना मात्र नहीं है, जैसा कि माध्यमिक मानते हैं। यदि उत्तर निषेधात्मक हो तो उसकी उक्ति का कोई प्रमाण नहीं है और वह स्वत: समाप्त हो जायगा। इस प्रकार "शून्यता" के सिद्धान्त पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

काल की आत्मानुभूति सम्भव नहीं है क्योंकि कोई वर्तमान क्षण नहीं है। यदि इसके अस्तित्त्व को स्वीकार भी किया जाय तो इसकी आत्मानुभूति सम्भव नहीं है क्योंकि गतिशील वर्तमान प्रत्येक क्षण भूत में परिणत हो रहा है। अत: वर्तमान को निर्धारित करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह आपत्ति निराधार है। आप कैसे वर्तमान का निषेध बिना वर्तमान का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? क्या आपको वर्तमान का ज्ञान है या नहीं? मैं यह देखता हूँ यह एक अर्थपूर्ण वाक्य है। "यह" निश्चित तरीके से "वर्तमान" का द्योतक है। इसे अस्वीकार करना हठवादिता होगी।

---

१. गतं न गम्यते तावत् अगतं नैव गम्यते।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमाना न विद्यते।। माध्यमिककारिका

इसका विकल्प भी अस्वीकार्य है। ज्ञान बिना ज्ञान के विषय के संभव नहीं है। तीसरा विकल्प संभव है, जिसमें ज्ञान एवं ज्ञान के विषय को अस्वीकार नहीं किया गया है किन्तु इसे विभ्रम माना है। "विभ्रम" मात्र कल्पना नहीं है। विभ्रम या दोष में आधार अवश्य होता है, इसे निर्विकल्प नहीं कहते। यह वाक्य कि काल भूत में नहीं था, निरर्थक वाक्य है। इसका अर्थ होगा कि एक ऐसा समय नहीं था। यह परस्पर विरोधी वाक्य है। काल के अस्तित्त्व को स्वीकार करना ही होगा। कान्ट ने इसे प्रत्यय माना है। कान्ट ने काल को प्रत्यय बनाकर इसकी वास्तविक सत्ता को समाप्त कर दिया। अन्त में हमें संशयवाद पर पहुँच जाना होगा, यदि हम कान्ट के विचार को मान लें। यदि हम काल को वास्तविक सत्ता प्रदान करें फिर भी एकात्मक काल व्यवहारिक जगत् के उपयोग का नहीं है। काल का विभाजन ही हमलोगों के उपयोग की वस्तु है। साधारण व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक काल का कोई महत्व नहीं है। परिवर्तन ही काल के अस्तित्त्व को सम्भव बनाता है। अपरिवर्तनशील काल दार्शनिकों के चिन्तन का विषय है, वह साधारण व्यक्ति के अनुभव की व्याख्या के लिए आधार नहीं प्रदान करता। साधारण व्यक्ति इसे काल्पनिक मानते हैं।

इस समस्या का निराकरण बाह्य उपाधि, यथा क्रिया के माध्यम से किया गया है। क्रिया में परिवर्तन होता है, इस परिवर्तन के साथ ही काल में भी परिवर्तन होता है। काल को क्षण, घंटा, दिन, महीना एवं वर्ष आदि में बाँट देते हैं। यह सूर्य की गति एवं क्रिया के सम्बन्ध से होता है। किन्तु इसे तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। बाह्य उपाधियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और वे सभी काल से सम्बन्धित हो सकती हैं। किन्तु जब तक काल में आन्तरिक विभाजन नहीं हो तो बाह्य उपाधियों के कारण विभाजन सम्भव नहीं है। वेंकटाचार्य के अनुसार काल एकात्मक है किन्तु गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील है। यह निरन्तर परिवर्तनशील है।

वेंकटाचार्य, इस सम्बन्ध में जैन के आणविक काल की चर्चा करते

हैं। जैन के अनुसार काल एकात्मक नहीं है। यह अणुओं का क्रम है।[1] काल का लघु या महत् रूप का निर्धारण कम या अधिक कालाणुओं की संख्या पर निर्भर करता है। काल को वे एक नहीं अनेक मानते हैं। वेंकट के अनुसार गति को कालाणुओं से काल के आयाम निर्धारण के लिए आवश्यक नहीं है। काल, जो प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, किसी भी वस्तु के समग्र जीवन माप सकता है। परत्व या अपरत्व वस्तुतः चीजों का काल के परिवर्तन के साथ अधिक या कम मात्रा में सम्बन्ध मात्र है। यह सम्बन्ध भौतिक सम्बन्ध है किन्तु यह सम्बन्ध पात्र एवं पात्र में रखी हुई वस्तु के समान है। इस प्रकार काल सभी चीजों के लिए पात्र है और परिवर्तन का कारण भी। कालाणु एवं परिवर्तनशील पदार्थों के बीच भी सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। फिर हम क्यों कालाणुओं के सिद्धान्त को अस्वीकार करें? उत्तर है कि अनन्त कालाणुओं को मानना कई मान्यताओं के मानने के समान है। इससे सरल है कि हम एकात्मक काल की असंख्य परिवर्तन को मानें। लाघव के नियम का भी अनुपालन इससे होता है। यदि काल को एक नहीं अनेक मानें और एक काल में असंख्य कालाणु अवतरित एवं तिरोहित होते रहें तो यह बौद्ध दार्शनिक का मत है। ऐसी स्थिति में यह भावना होगी कि तिरोहित होने वाले क्षण के लिए दूसरा क्षण मानना होगा, जिसमें यह तिरोहित होता है। इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। परिवर्तन केवल भिन्नता नहीं है, बल्कि उस वस्तु की निरन्तर एकता भी आवश्यक है। बौद्ध क्षणवादी परिवर्तन को विनाश के साथ सम्बन्धित करते हैं। वे आंशिक परिवर्तन को नहीं मानते। अतः वे परिवर्तन के सिद्धान्त को ही तिलांजलि दे देते हैं। यदि एक वस्तु उत्पन्न होती है और समाप्त होती है और यह क्रम चलता रहता है तो इसका अर्थ होगा कई गतिहीन घटनाएं होंगी और परिवर्तन अर्थहीन बन जाएगा। इस प्रकार एक काल के बदले असंख्य काल को मानने से कोई लाभ नहीं होगा।

वेंकटाचार्य के अनुसार काल एक एवं नित्य है। किन्तु क्या नित्यता का बोध हमें अनन्त क्रम में फंसा देता है? नित्यता क्या है? इसका अर्थ

१. तत्त्वमुक्ताकलाप-स्पन्द सन्तति सिद्ध्यर्थं कालस्याणुत्व कल्पनम्

है, सभी कालों में वर्तमान रहना। नित्य वह तत्त्व है, जो सभी काल विभागों में वर्तमान रहता है। नित्य काल का अर्थ है कि काल सतत् रहता है और इसका अस्तित्त्व कभी समाप्त नहीं होता है। इस प्रकार नित्य काल की कल्पना पूर्णतः तर्कसंगत है। काल केवल नित्य ही नहीं है, बल्कि यह विभु भी है। काल परिवर्तन का मूल कारण है। इस प्रकार काल ईश्वर के समान विभु है।[1] ईश्वर एवं काल सह-नित्य एवं सह-अस्तित्त्व का है। वेंकट के अनुसार दो नित्य एवं विभु तत्त्व के बीच सम्बन्ध हो सकता है। वैशेषिक इसे नहीं मानता है क्योंकि वैशेषिक के अनुसार संयोग का सम्बन्ध गति से निर्धारित होता है और इस प्रकार वैशेषिक निरुपाधिक सम्बन्ध को नहीं मानता। किन्तु वेंकट इसे नहीं मानते हैं। संयोग सापेक्ष है, यदि दो पदार्थ अलग रहते हैं और सम्बन्ध एक या दोनों की गति पर निर्भर है। जहाँ तक नित्य एवं विभु तत्त्व का प्रश्न है, आपस में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वे आकस्मिक गति पर निर्भर नहीं करते हैं।

यह तर्क दिया जाता है कि यदि काल नित्य एवं विभु है तो यह परिवर्तन का करण नहीं हो सकता। परिवर्तन एक घटना है। अतः इसे कारण होना चाहिए। कारण का सम्बन्ध संयुक्त पद्धति से प्रमाणित किया जा सकता है।[2] किन्तु नित्य काल आकस्मिक कारण नहीं बन सकता। व्यतिरेक सम्बन्ध काल पर लागू नहीं हो सकता। हमलोग नहीं कह सकते कि काल नहीं है तो परिवर्तन नहीं है। मात्र सह-अस्तित्त्व के आधार पर भी कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता क्योंकि काल कारण रूप में सदा वर्तमान रहता है। उत्तर है कि व्यतिरेक में कारण भौतिक रूप से वर्तमान नहीं रहता है। इसे घटनाओं के प्रसंग में प्रमाणित किया जा सकता है। घटना काल में घटती है। काल वस्तुतः घटनाओं का कारण है।

सारांश है कि काल, वेंकट के अनुसार एक नित्य एवं विभु तत्त्व है।

लोकाचार्य के अनुसार काल सत्त्व गुण विहीन है। यह प्रकृति तथा

---

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, पृ० ६३६-अतो यत्र कलस्तत्र सर्वत्र परमात्माऽस्तीति तस्य काल व्यापकत्वं।

२. वही, पृ० ६३७

विकास की वस्तुओं में परिवर्तन का कारण है। यह नित्य है। यह ईश्वर में निहित है। ईश्वर की लीला में काल सहायक है। काल क्षणों में विभक्त है, अपने औपाधिक गुणों के कारण यह कार्यों का सामान्य कारण है। आगे कहा गया है कि काल ईश्वर की दुनियाँ में नित्य है पर विश्व में अनित्य है।[१]

यतीन्द्रमतदीपिका का रचनाकार श्रीनिवास दास, संक्षिप्त में विशिष्टाद्वैत स्कूल के मत की व्याख्या करते हैं। श्री निवास के अनुसार काल जड़ है। यह सत्व, रजस् तमस्विहीन है। इस प्रकार श्रीनिवास का मत लोकाचार्य के मत से भिन्न है क्योंकि लोकाचार्य मानते है कि काल में सत्त्व गुण नहीं है यह परत्व अपरत्व, चिर, क्षिप आदि बोध का आधार है। यह निमिष काष्ठा, कला, मुहूर्त आदि काल विभाग का कारण है। मानव का एक दिन देवता के एक महीने के बारबर है। चारों युगों को मिलाकर १२,००० वर्ष हैं। इससे आगे मनु की व्याख्या की गयी है। प्रलय भी काल पर निर्भर है। काल सत्य, नैमित्तिक, प्राकृत प्रलय का उपादान कारण है। इस ग्रंथ ने पुराणोक्त युग, मन्वन्तर तथा प्रलय के क्रम को ही माना है।

ईश्वर की लीला विभूति में काल अहम् भूमिका निभाता है। ईश्वर इस स्थिति में काल पर निर्भर है। नित्य विभूति में यद्यपि काल वर्तमान रहता है किन्तु इसे निरपेक्ष दर्जा नहीं प्राप्त है। यह ईश्वर के अधीन है। इस ग्रंथ के अनुसार काल का प्रत्यक्षज्ञान छः ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है। काल का अनुमान के द्वारा ज्ञान होता है, इस विचार का भी खण्डन इस ग्रंथ में किया गया है।[२]

मध्व, द्वैताद्वैत मत के प्रवर्त्तक के अनुसार काल एवं दिक् का सह-अस्तित्त्व है। प्रकृति से काल का सीधे विकास होता है। सभी पदार्थ इसमें रहते हैं। यह कहा जाता है कि यह भी विकसित पदार्थ का सामान्य

१. तत्त्वत्रय, पृ० ७४ एवं पृ० ७९
२. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० ७५-७८

कारण है। यह आपत्ति होती है और तर्कसंगत नहीं है क्योंकि प्रकृति के कुछ अंश से ही काल की उत्पत्ति होती है और महत् आदि की उत्पत्ति प्रकृति के दूसरे अंश से।[१] मध्व के अनुसार पदार्थ, कर्म, काल, प्रकृति एवं आत्मा का अस्तित्त्व ईश्वर की इच्छा पर है और ईश्वर से स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है।[२] उन्होंने कहा है-"काल था, आत्माऐं थीं, ईश्वर थे, जो कुछ भी था, वह सभी ईश्वर में समाहित हो गया, अत: वे अस्तित्त्व विहीन थे।[३]"

वल्लभ, शुद्धाद्वैत प्रवर्त्तक, के अनुसार वास्तविक काल में सत्, चित् एवं आनन्द है। किन्तु व्यावहारिक काल सत् की आंशिक अभिव्यक्ति है। काल सत्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था में क्षोभ पैदा करता है। कर्म एवं स्वभाव काल के अंश हैं।[४]

शंकर ने दिक् की समस्या की विशद व्याख्या की है। सृष्टि की पहली रचना आकाश है। ईश्वर की माया से सृष्टि की रचना हुई है। सूक्ष्म आकाश को भौतिक पदार्थों के संयोग के साथ देख सकते हैं। जब भौतिक पदार्थ इससे अलग हो जाते हैं तो इन का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं होता। आइन्सटाइन के अनुसार हम आकाश का बोध भौतिक पदार्थों के माध्यम से प्राप्त करते हैं।[५] नाम-रूप जगत् की सृष्टि का आधार आकाश को अद्वैत वेदान्त में माना गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मानता है कि दिक् सादि है क्योंकि यह सृष्टि की पहली उत्पत्ति है। दिक् जगत् की अन्य वस्तुओं के अस्तित्त्व को संभव बनाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार दिक् भारहीन, विभु एवं सूक्ष्म है।[६] आगे कहा गया है कि दिक् की

---

१. न्यायसुधा-II. १.६

२. मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ६४

३. भागवततात्पर्य-II. १०.१२ द्रव्यं कर्मं च कालस्य स्वभावो जीव एव च...

४. मध्व (ब्रह्मसूत्र)-II. १.१७

५. अणुभाष्य-पृ० १६५

६. शांकरभाष्य, I. १.२२

उत्पत्ति का अर्थ है दिक् सादि एवं सान्त है और मायिक ईश्वर पर इसकी सत्ता निर्भर है। दिक् अनन्त प्रतीत होता है। किन्तु यह सान्त है। इस प्रकार दिक् सान्त एवं सापेक्ष है। इस ग्रंथ के अनुसार जिसकी सृष्टि होती है, वह पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसे बड़ी सत्ता पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेकानन्द ने कहा है कि सापेक्ष सत्ता पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकती।[१]

शंकर ने स्पष्टतः कहा है कि दिक् भी अन्य उत्पन्न वस्तु के समान सादि है। उत्पन्न वस्तु विभाज्य है। दिक् में भी विभाग पृथ्वी आदि की तरह कर सकते हैं। काल का विभाजन प्रमाणित करता है कि इसकी उत्पत्ति होती है और इसमें जो गुण हैं, उसके कारण परिवर्तन होता है। शंकर कहते हैं–''सारा विश्व ईश्वर से उत्पन्न होता है–दिक् उसकी पहली उत्पत्ति है, उसके बाद अन्य वस्तुऐं हैं।''[२] शंकर सदा कहते हैं कि दिक् अन्य पदार्थों के संयोग में रहता है। दिक् का विभाजन पदार्थों के कारण ही होता है। दूसरे मत के समान अद्वैत वेदान्त दिक् को नित्य नहीं मानता है क्योंकि इसमें जो गुण हैं, उसके कारण परिवर्तन होता है और क्षय भी। इस तरह का तत्त्व नित्य नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म को ही नित्य एवं अनन्त माना गया है। अन्य पदार्थ दिक् सहित सान्त एवं अनित्य हैं। शंकर ने कहा है–"दिक् विभाजन अन्य पदार्थों, यथा- पृथ्वी आदि के संयोग से होता है, इस प्रकार दिक् भी एक परिणाम् है।"[३]

शंकर बौद्धमत का खंडन करते हैं कि आकाश अभावात्मक वस्तु है। उनके अनुसार आकाश भावात्मक वस्तु है क्योंकि पूर्ण विश्व की सृष्टि आकाश से होती है।

रामानुज के अनुसार आकाश प्रकृति से उत्पन्न होता है। वेंकट मानते हैं कि आकाश का ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है। इनका तर्क अनुभव पर आधारित है। क्योंकि हम नीले आकाश या लाल आकाश को देखते हैं।

---

१. दि कम्पलीट वर्क्स, भाग २, पृ० १३२

२. शांकरभाष्य, II. ३.७

३. वही, I. २.२४

वे इस बात का खंडन करते हैं कि आकाश का अनुमान गति के आधार पर किया जाता है क्योंकि आकाश दीवाल में भी होता है जहाँ गति सम्भव नहीं है। वे बौद्ध मत का भी खण्डन करते हैं कि आकाश मात्र आवरणाभाव है। अनुभव के आधार पर हम जानते हैं कि दुःख का अभाव ही सुख है और प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। बौद्ध मतानुसार इस मत का खण्डन करते हैं और अपने मत के पक्ष में तर्क देते हैं कि आकाश भावात्मक सत्ता है। अभाव में भी भावात्मकता है।[१] यह भावात्मकता से भिन्न नहीं है। अभाव भावात्मक सत्ता की अनुपस्थिति है, जिसका समर्थन अभाव से होता है। आकाश की भावात्मक सत्ता की पुष्टि भावात्मक अनुभव से होती है। यह उक्ति कि आकाश आवरण के कारण नहीं, निरर्थक है क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जबकि हम आवरण करने वाली वस्तु से आंशिक रूप से काट देते हैं। अनावरण विधेय है जो हम भावात्मक सत्ता के समर्थन में देते हैं। वेंकट आगे कहते हैं कि "यहाँ एक वस्तु है", यह वाक्य बोधगम्य नहीं होगा क्योंकि "यहाँ" शब्द का कोई अर्थ नहीं है। यह मात्र निषेध का अभाव है। फिर यदि आवरण करने वाली वस्तु में आकाश का अभाव है, तो आकाश को उस वस्तु का अभाव मानना भ्रामक है क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक वस्तु अपने आप निषेध करेगी, यह तर्कसंगत नहीं है। प्रतिपक्षी के द्वारा भी आकाश को धरातल माना जाता है। इससे पता चलता है कि आकाश भावात्मक सत्ता है, जिस पर कुछ गुण आरोपित किये जाते हैं। यदि यह पूर्णतः अभावात्मक होता तो कोई गुण इस पर आरोपित नहीं किया जा सकता। बौद्ध का यह मत कि दुःख का अभाव मिथ्या सुख मान लिया जाता है, वेंकट के पक्ष को कमजोर नहीं बनाता है क्योंकि निषेध ही एक प्रकार की भावात्मकता है।[२] वेंकट का आगे कहना है कि "यहाँ आवरण नहीं है" में आधार बतलाना होगा, जहाँ आवरण का अभाव है। अनावरण का आधार ही आकाश है। वेंकट अन्त में कहते हैं, आकाश विभु एवं नित्य नहीं है किन्तु एक भावात्मक सत्ता है।

---

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, पृ० ५११

२. वही, पृ० ५१६

दिक् या दिशा, यथा-उत्तर, दक्षिण आदि आकाश से भिन्न नहीं हैं क्योंकि आकाश गतिशील पदार्थों को अवकाश प्रदान करता है। आकाश ही विभिन्न दिशाओं के रूप में दिखाई पड़ता है।

श्रीनिवास ने कहा है कि आकाश की उत्पत्ति आवाज तन्मात्रा से होती है। आकाश विशेष शब्द का आधार है और इसमें स्पर्श गुण नहीं होता है। इससे सुनने में भी मदद मिलती है। आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसका विशेष गुण आवाज है और दिक् का कारण है। हम कहते हैं कि आकाश नीला है। पंचीकरण के माध्यम से रंग ग्रहण करता है। आकाश से भिन्न दिक् का अस्तित्त्व नहीं है क्योंकि आकाश सूर्य की गति के कारण पूरब, पश्चिम आदि प्रतीत होता है। गतिशील पदार्थों का अभाव ही आकाश को आधार स्वरूप स्वीकार करता है।[१]

आचार्य मध्व के अनुसार आकाश का ज्ञान साक्षी या अन्त:करण से होता है। इसको प्रमाणित करने के लिए अन्य दार्शनिकों के विचार की समीक्षा आचार्य मध्व ने की है। कुमारिल के अनुसार आकाश का ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है। किन्तु उनका मत सही नहीं है क्योंकि आँख से उसी पदार्थ को देख सकते हैं जिसमें रंग हो।

न्यायवैशेषिक के अनुसार आकाश का विशेष गुण शब्द है। यदि यह सही है तो जो मनुष्य जन्म से बधिर है, उसे आकाश का ज्ञान नहीं होगा। दोषयुक्त इन्द्रिय के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार आकाश का ज्ञान उसे नहीं होगा। किन्तु इस अनुभव से पाते हैं कि बधिर को भी आकाश का ज्ञान होता है और वे कहते हैं- "यह यहाँ है"। इससे प्रमाणित होता है कि आकाश का ज्ञान साक्षी या अन्त:करण के द्वारा होता है। शब्द दो प्रकार के हैं- उच्चरित एवं अनुच्चरित। उच्चरित शब्द गुण नहीं है। यह अनादि और अनन्त है। यह अपरिवर्तनीय है और जिन वस्तुओं के माध्यम से व्यक्त होता है, उनसे स्वतंत्र है। यह माना जाता है कि अनुच्चरित शब्द गुण है। किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि यह आकाश का गुण है।

---

१. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० ५९-६०

आचार्य मध्व अव्याकृताकाश तथा भूताकाश में अन्तर बतलाते है। अव्याकृताकाश वस्तुतः शाश्वत शून्यता है। यह सभी पदार्थों को अवकाश प्रदान करता है। बौद्धमत के अनुसार आकाश गतिशील पदार्थ का अभाव है। गतिशील पदार्थ आकाश में एक विशेष अंश में रहता है। इस प्रकार इस अभाव का भी विशेष अंश में रहता है। यदि पदार्थों को हटा दिया जाय तो विभाजन समाप्त हो जायगा। अतः विभाजन के कारण यह अनित्य है। आकाश को नित्यानित्य कहते हैं।[१]

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति होती है।[२] आकाश को आँख से नहीं देख सकते हैं। इसका ज्ञान विशेष गुण शब्द से होता है। आकाश से भिन्न दिक् नहीं है।[३]

---

१. न्यायसुधा, II. ३.१

२. अणुभाष्य, पृ० ६१–जन्माद्यस्य आकाशस्य यतः।

३. प्रस्थानरत्नाकर, पृ० २०९

नवम अध्याय

आधुनिक वैज्ञानिकों-दार्शनिकों के विचारों का अवलोकन

न्यूटन के अनुसार दिक् एवं काल के बोध मौलिक हैं। किन्तु न्यूटन का विचार सामान्य बोध प्रतीत होता है, वैज्ञानिक नहीं। उनके अनुसार, दिक् की अपनी सत्ता है और यह पूर्णत: खाली है। यह विस्तृत है और इसमें भौतिक पदार्थ रहते हैं। दिक् का अस्तित्त्व भौतिक विश्व से पूर्व का माना जाता है और ये भौतिक विश्व के समाप्त हो जाने के बाद तक स्थित रहते हैं। काल का माप घटनाओं का क्रम से होता है। किन्तु काल स्वभावत: घटनाओं से स्वतंत्र है। यदि भौतिक विश्व में घटनाएं नहीं घटें, फिर भी काल का प्रवाह आगे बढ़ता जाता है। किन्तु क्या हम काल के बारे में मृत तथा जीवित प्राणी के अभाव में सोच सकते हैं? इसका उत्तर आसानी से नहीं मिलता। किन्तु इससे आभास मिलता है कि दिक् एवं काल के बीच सम्बन्ध है।

आइन्सटीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त के पूर्व दिक् एवं काल को स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता के रूप में माना जाता था। सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने दिक् एवं काल के इस बोध को बदल दिया और इन्हें अधिक मौलिक सत्ता की व्युत्पत्ति बना दिया तथा इन्हें सापेक्ष भी बना दिया।

आइन्सटीन के अनुसार लम्बाई एवं काल का माप गति के साथ

परिवर्तित होता रहता है। यदि हम एक मापक छड़ी को लेकर अचल प्रेक्षक के पास से गुजरें तो वह अचल प्रेक्षक कहेगा कि आपकी मापक छड़ी सिकुड़ गयी है और आपकी छड़ी धीमी चल रही है। हमलोग उनकी मापक छड़ी के बारे में यही बातें कहेंगे। इन विचित्र घटनाओं का अवलोकन पहले नहीं हुआ था या इसका अवलोकन बहुत कठिन था। क्योंकि इसका अवलोकन तीव्रतम गति से या प्रकाश के वेग से सम्भव है।

इसे ध्यान में रखना है कि आइन्सटीन का सिद्धान्त पर्यवेक्षित तथ्यों एवं पूर्व स्थापित प्रकाश के वेग के सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धन्त प्रतिपादित करता है कि प्रकाश का वेग नियत रहता है, चाहे हम उसे चल या अचल स्थान से देखें। प्रकाश की एक किरण का वेग विभिन्न पर्यवेक्षकों के लिए समान रहेगा, यथा १८६,००० मील प्रति सेकेन्ड। पर्यवेक्षक की गति माप को प्रभावित नहीं करती है। यदि उपर्युक्त सिद्धान्त प्रामाणिक है तो दिक् एवं काल सापेक्ष हैं। उनमें परिवर्तन पर्यवेक्षक की गति के साथ होता है। दो घटनाएं जो एक पर्यवेक्षक के लिए समसामयिक हैं, वे दूसरे के लिए समसामयिक नहीं होंगे, यदि वह दूसरी गति से चल रहा है। इस प्रकार भिन्न पर्यवेक्षक दिक् एवं काल का भिन्न माप करते हैं।

आइन्सटीन के शब्दों में - "यह स्पष्ट है कि घटनाओं की समसामयिकता का कोई अर्थ नहीं है सिवा विशेष सहकारी पद्धति के प्रसंग में, और मापक छड़ी की लम्बाई और घड़ी की गति निर्भर करती है सहकारी पद्धति पर।"

सापेक्षवाद का सिद्धान्त मानता है कि दिक् सान्त है किन्तु घिरा हुआ नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक में मतैक्य है कि दिक् यूक्लीड के रेखागणित के नियम द्वारा शासित नहीं होता है। यह रीमैन के रेखागणित के नियम का पालन करता है। इन दोनों रेखागणितों के अन्तर को जानना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को मालूम है कि आयतन में तीन आयाम होते हैं–लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। जहाँ धरातल में केवल दो–चौड़ाई

एवं लम्बाई होती है। मान लीजिए कि एक जन्तु धरातल पर रहता है तो उसे केवल लम्बाई एवं चौड़ाई का ज्ञान होता है, ऊपर और नीचे का नहीं। जन्तु टेबल के धरातल पर है तो वह पायेगा कि उसका टेबल कभी भी सीमाहीन नहीं है जब तक कि वह अनन्त तक नहीं जाय। वह सीधी रेखा पर चलेगा तो टेबल के किनारे पहुँच जायेगा और पायेगा कि यह ससीम है, जब तक कि टेबल की लम्बाई और चौड़ाई अनन्त न हो। किन्तु गोलाकार धरातल पर कम कठिनाई उपस्थित नहीं होगी। जन्तु गोलाकार धरातल पर चलता रहेगा किन्तु सीमा के अन्त पर नहीं पहुँचेगा। इस प्रकार गोलाकार धरातल सीमाहीन है, यद्यपि इसका क्षेत्रफल सीमित है। इस प्रकार दिक् को सीमित एवं सीमाहीन मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

यह ध्यान में रखना होगा कि यूक्लीड के रेखागणित में समतल धरातल को माना गया है और रीमैन गोलाकार धरातल को मानता है। इस प्रकार यूक्लीड के रेखागणित ने रीमैन के रेखागणित के पक्ष में स्थान छोड़ दिया। रीमैन के रेखागणित का उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक आइन्सटीन ने किया है। इस रेखागणित ने दिखलाया है कि दो आयामी गोलाकर धरातल में वे सारे गुण हैं, जो तीन आयामी समतल धरातल में पाये जाते हैं, यानी दिक् ससीम है तथा सीमाविहीन भी। इस गोलाकार धरातल पर हम चलते जायें तो हम किसी सीमा पर नहीं पहुँचते हैं और हमारे आगे बढ़ने में कोई रुकावट पैदा नहीं करता। किन्तु उस दिक् में फिर हम लौटकर अपने आरम्भ विन्दु पर पहुँच जाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि क्षेत्रफल सीमित है।

इस प्रकार हमें दिक् की नयी अवधारणा प्राप्त होती है, जिसमें दिक् की पुरानी अनमनीयता समाप्त हो जाती है और भौतिक घटनाओं में भाग ले सकता है। यह अब मात्र निष्क्रिय पात्र नहीं रह जाता है।

विशेष सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार दिक् एवं काल अविभाज्य हैं। आइन्सटीन ने कहा है- "आज तक यह मान लिया था है कि घटनाओं का चतुर्आयामी सातत्यक को दिक् एवं काल में वास्तविक बंटवारा कर सकते हैं- दूसरे शब्दों में घटनाओं की दुनियां में "अब" को निरपेक्ष अर्थ

प्रदान किया जाता है। "समसामयिकता" की सापेक्षता की खोज के बाद, दिक् एवं काल एक सातत्यक में अन्तलींन हो जाते हैं, जैसा कि पहले दिक् के तीनों आयाम अन्तर्लीन हो गये थे। भौतिक दिक् चतुर्आयामी बन गये, जिसमें काल एक आयाम है। चतुर्आयामी दिक्, विशेष सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार उतना ही अनमनीय तथा निरपेक्ष है, जितना कि न्यूटन का दिक्।"[१]

मिन्कॉस्की[२] का दिक् एवं काल की सापेक्षता का सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत लगेगा, जब हम काल एवं दिक् को अधिक मौलिक सत्ता-चतुर्आयामी दिक्-काल सातत्यक का पक्ष मानेंगे। काल का एक आयाम लम्बाई के एक आयाम के समान है। इसकी व्याख्या का इस प्रकार है-जब कभी भी कोई व्यक्ति किसी उम्र के बारे में पूछता है तो वह मात्र इसकी लम्बाई के बारे में पूछता है, न कि चौड़ाई या मोटाई के बारे में। दिक् के तीन आयाम और काल के एक आयाम चतुर्आयामी दिक्-काल सातत्यक में अन्तर्लीन हो जाता है। मिनकॉस्की ने कहा है- "अब से दिक् स्वयम् और काल स्वयम्, छायामात्र रह गये, उन दोनों का सम्मिलित रूप ही वास्तविक सत्ता रह जायगी।" सर जेम्स जीन्स ने भी इस तथ्य को उजागर इन शब्दों में किया है "अब तक हम लोगों ने माना है कि दिक् को वैसी वस्तु जो हमलोगों के सामने से गुजरती है या हमारे बीच से गुजरती है। दोनों (दिक् एवं काल) सभी दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते थे। हम दिक् में पीछे लौट सकते थे, किन्तु काल में पीछे लौटना असंभव था। हम लोग जेती से धीरे-धीरे या दिक् में नहीं चल सकते थे। पर काल की गति को नियमित नहीं कर सकते थे। काल प्रवाह नियंत्रित गति से हमलोगों के लिए चलती थी।[१] लेकिन मिन्कॉस्की का कहना है कि दिक् एवं काल में भेद एवं विभिन्नता प्रकृति को अज्ञात थी। सर जेम्स जीन्स ने कहा है- दूसरे शब्दों में सातत्यक एक है जिसमें दिक् एवं काल इस प्रकार घुलमिल गये, एक में इतने अन्तर्लीन हो गये, जिस प्रकार क्रिकेट बॉल की भूमि पर लम्बाई एवं चौड़ाई इतनी मिल जाती है कि क्रिकेट उनके बीच का भेद नहीं बता सकता और

---

१. एसेज इन साइन्स, आइन्सटीन, पृ० ६८

२. मिनकॉस्की का व्याख्यान, १९०८

पूरी भूमि को एक क्षेत्रफल मानता है, जिसमें लम्बाई एवं चौड़ाई अपना अस्तित्त्व खो देते हैं।''

क्योंकि प्रकृति दिक् एवं काल में भेदों तथा विभिन्नताओं से अनभिज्ञ है, अतः ये पूर्णतः मनोवैज्ञानिक हैं। सापेक्षता का सिद्धान्त बतलाता है कि भिन्न पर्यवेक्षक दिक् एवं काल का माप भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। निरपेक्ष दिक् एवं काल जैसी कोई सत्ता नहीं है। किन्तु सभी इस बात पर सहमत हैं कि विशेष सम्बन्ध है, जिसे अन्तराल कहते हैं और जो चतुर्आयामी सातत्य से सम्बन्धित है। सभी मानते हैं कि यह अन्तराल स्थानिक कालिक सम्बन्ध है और इस अन्तराल में सभी पर्यवेक्षक अपने ढंग से दिक् एवं काल को मिलाकर प्राप्त करते हैं। पर्यवेक्षक दिक् एवं काल के माप के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं किन्तु दो घटनाओं के बीच के अन्तराल के सम्बन्ध में एकमत हैं। मिन्कॉस्की के अनुसार यह अन्तराल गणितीय अन्तराल के समान है जो लम्बाई के लिए है। किन्तु यह लम्बाई चतुर्आयामी सातत्यक में है। पर्यवेक्षक चतुर्आयामी सातत्यक के माप पर एकमत हैं।

विज्ञान में दिक् एवं काल का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। दिक् की व्याख्या निम्नवत हैं :-

प्रत्ययात्मक दिक्-प्रत्ययात्मक दिक् प्रमुखतः भाववाचक रेखागणित का दिक् है। इसका अस्तित्त्व मानव मस्तिष्क से बाहर नहीं है। इसके आयाम भी मानव मस्तिष्क पर निर्भर है।

अनुभवात्मक दिक्-यह वस्तुतः चेतन व्यक्ति का दिक् है। मानव सभी वस्तुओं की कल्पना त्रिआयामी रूप में करता है, जिसे दिक् कहा जाता है। इसकी रचना संवेदनाओं के अनुभव करने वाले के द्वारा होती है, और यह संवेदनाओं के समाप्त होते ही समाप्त हो जाती है। सर जेम्स जीन्स कहते हैं- "एक आँख के आदमी के लिए एक या दूरस्थ पदार्थ को जो बाईनोकुलर से देखता है और उसे दूरी का ज्ञान नहीं होता है। प्रत्यात्मक दिक् उसे द्विआयामी मालूम पड़ेगा, जब तक कि देखने के अलावा दूसरे ज्ञानेन्द्रिय का सहारा नहीं लिया जाता। इस प्रकार प्राचीन

(व्यक्तियों) ने ध्रुवतारा को गोलाकर के द्विआयामी समतल पर सिथर कर दिया जैसे ही नजदीक के पदार्थों को सामान्य मनुष्य के द्वारा देखा जाता है या बाइनोकुलर का इस्तेमाल किया जाता है, या जैसे ही आँख के अतिरिक्त इन्द्रिय का इस्तेमाल किया जाता है, दिक् का तृतीय आयाम उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार अनुभवात्मक दिक् का आकार परिग्राहक पर निर्भर करता है।

भौतिक दिक्-भौतिक दिक् भौतिकशास्त्र एवं सौरशास्त्र का दिक् है। प्रत्ययात्मक दिक् एवं अनुभवात्मक दिक् को निजी दिक् कहा जाता है। एक मानव मस्तिष्क का और दूसरा परिग्राहक का। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि वस्तुएं स्थायी तौर पर दिक् में सज्जित हैं। अत: यह दिक् सार्वजनिक है। इस प्रकार भौतिक दिक् ही सार्वजनिक दिक् है। इस अवधारणा में सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने थोड़ा परिवर्तन किया है।

निरपेक्ष दिक्-निरपेक्ष दिक् भी भौतिक दिक् है, जिसे न्यूटन ने स्वीकार किया है। न्यूटन के अनुसार निरपेक्ष दिक् में जो माप किया जाता है, वह समान एवं स्थिर होता है। न्यूटन ने इसका अनुभवात्मक दिक् से अन्तर बताया है, जिसे वह सापेक्ष दिक् कहते हैं। इस प्रकार काल के भी चार अर्थ होते हैं–

प्रत्ययात्मक काल-ऐसा काल मानव मस्तिष्क में रहता है। यह काल प्रमुखत: एक आयामात्मक है किन्तु यह बहुआयात्मक भी मानव मस्तिष्क के द्वारा बनाया जा सकता है।

अनुभवात्मक काल-यह काल व्यक्ति की चेतना पर आधारित है और यह तब तक बना रहता है, जब तक मानव चेतना बनी रहती है। परिग्राहक का अनुभव एक के बाद एक आता है, अत: अनुभवात्मक काल एकआयामी है।

भौतिक काल-वह काल है, जो भौतिकशास्त्र और सौरशास्त्र का काल है। प्रत्ययात्मक काल एवं अनुभवात्मक काल के विपरीत यह सार्वजनिक काल है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि घटनाओं को एक के बाद एक में सुसज्जित कर सकते हैं। इस प्रकार काल के विभिन्न माप

हो सकते हैं। किन्तु सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के बाद से इसमें परिवर्तन आया है।

निरपेक्षकाल-निरपेक्ष दिक् का ही प्रतिरूप है। न्यूटन के अनुसार इस काल का निरपेक्ष माप सम्भव है क्योंकि यह प्रकाश के वेग आदि से अप्रभावित रहता है।

सर जेम्स जीन्स ने काल के विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा के आधार पर माना है कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त में काल एवं दिक् को पूर्ण स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में नहीं माना है,बल्कि दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में विशद् व्याख्या करता है। सर जेम्स जीन्स ने कहा है-"न्यूटन मानता है कि सभी पदार्थों को निरपेक्ष दिक् में स्थान दिया जा सकता है और सभी घटनाओं, जहाँ भी घटित हों, को विषयगत रूप में तथा विचित्र ढंग से निपरेक्ष काल प्रवाह में स्थान दिया जा सकता है।[१]

सर जेम्स जीन्स के अनुसार यह अवधारणा बाद की जांच के आधार पर खरी नहीं उतरती है। इस जांच से पता चलता है कि न्यूटन का सिद्धान्त प्रकाश की गति और उन पदार्थों के व्यवहार जो प्रकाश की गति से चलता हो, उनकी पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता। सापेक्षवाद का सिद्धान्त बतलाता है कि भौतिक दिक् एवं भौतिक काल का अस्तित्त्व निरपेक्ष नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि ये दिक्-काल सातत्यक का पृथक्कृत अंश है। सापेक्षवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व, कोई दिक् एवं काल के मिलन की कल्पना नहीं कर सकते थे। प्रथम दृष्टया दिक् एवं काल समान स्वभाव के प्रतीत नहीं होते हैं। किन्तु सापेक्षवाद का सिद्धान्त इन दोनों को दिक्-काल सातत्यक में अन्तर्लीन कर देता है, जो बड़े वैज्ञानिक एवं दार्शनिक महत्व का है। किन्तु यह भी ध्यान में रखने की बात है कि सापेक्षवाद का सिद्धान्त दिक् एवं काल का एकीकरण नहीं करता है। दिक् एवं काल स्वभावत: विषमधर्मी हैं। उनकी विषमधर्मिता की स्पष्ट व्याख्या मिन्कॉस्की ने की है। उनके अनुसार काल भी वही भूमिका अदा नहीं करता जो दिक् करता है।

सर जेम्स जीन्स के अनुसार प्रत्येक पर्यवेक्षक अपने ढंग से दिक्

१. दि मिस्चिरियस यूनिवर्स, पृ० ८६

एवं काल को दिक्-काल सातत्यक से निकाल लेता है और विभाजन का स्वरूप उसकी गति की तीव्रता पर निर्भर करता है दिक् एवं काल निजी हैं किन्तु दोनों का सम्मिलित रूप सार्वजनिक है।

सापेक्षवाद के सिद्धान्त की मान्यताओं की गहन समीक्षा के आधार पर सर जेम्स जीन्स का निष्कर्ष निम्नलिखित है :–

यह कठिन प्रतीत होता है कि दिक् को काल से अलग कर सकें, किन्तु भौतिकशास्त्र एवं सौरशास्त्र दूसरी कहानी कह सकते हैं। सर जेम्स जीन्स ने कहा है वह पूर्वकल्पना जो यह मानती है कि दिक् एवं काल का अस्तित्त्व नहीं है, वह मानवकृत भौतिकशास्त्र में व्यवस्था उत्पन्न करता है किन्तु सौरशास्त्र में अव्यवस्था जैसी स्थिति उत्पन्न कर देता है। अत: ऐसी संभावना है कि पूर्वकल्पना सत्य न हो।[१]

न्यूटन के निरपेक्ष दिक् एवं निरपेक्ष काल के सिद्धान्त को नीहारिका सौरशास्त्र से समर्थन मिलता है। यदि नीहारिका सौरशास्त्र निरपेक्ष काल के निर्धारण का रास्ता निकाल सके तो दिक्-काल की एकता प्रकृति द्वारा ही दिक् एवं काल में विभाजित हो जायेगी। वे आगे कहते हैं कि सापेक्षवाद का सिद्धान्त दिक् एवं काल के माप से सम्बन्धित है किन्तु दिक् एवं काल के स्वभाव की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता है।यह सिद्धान्त मानता है कि दिक् एवं काल एक साथ मिले हुए हैं, अत: यह सिद्धान्त दिक् एवं काल के स्वभाव के सम्बन्ध में भी सामान्य रूप में कहता है।

निष्कर्षत: सर जेम्स जीन्स ने कहा है-"हम पाते हैं कि ऐसे वास्तविक तत्त्व हैं जो दिक् एवं काल के रूप में निरूपित नहीं हो सकते। इस प्रकार परम तत्त्व को दिक् एवं काल अपने में समाहित नहीं कर सकता। केवल परम तत्त्व के दूत को ही समाहित करता है।[२]

इस निष्कर्ष से ऐसा प्रतीत होता है कि सर जेम्स जीन्स न्यूटन के ज्यामिति के समर्थक थे। उन्होंने अनिच्छापूर्वक सापेक्षवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

---

१. फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी, पृ० ६७

२. वही, पृ० ६९

सर एडिंगटन ने सापेक्षवाद के सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की है। उनमें यह योग्यता थी कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त की गुत्थियों को आसानी से समझ सकें। एडिंगटन ने भूल सिद्धान्त में विशेष योगदान नहीं किया है। उन्होंने केवल दो या तीन अनुप्रयोगों को जोड़ा है।

रॉयल इन्स्टिच्यूशन के प्रसिद्ध व्याख्यान देते हुए एडिंगटन ने कहा है-"अभी कोठरी में प्रवेश करते हुए कई कठिनाइयों का समाना करना पड़ा। शुरू में हम लोगों को आबोहवा के दुर्वह भार को सहना पड़ा, जिसका वजन १४ पौंड प्रत्येक वर्ग इंच था। प्रत्येक कदम आगे बढ़ने के लिए पृथ्वी के टुकड़े पर धीरे-धीरे चलना पड़ता है, जिसकी गति दर २० मील प्रति सेकेन्ड सूर्य के चारों ओर है। हम लोग पृथ्वी पर खतरनाक तरीके से पैर के बल लटके हुए हैं और हमारा सिर दिक् में झूल रहा है। यह कलाबाजी का कारनामा ईथर के झोके का सामने किया जाता है, जिसकी गति अज्ञात है। हमलोग इन कठिनाइयों के सामना करने का श्रेय नहीं ले सकते क्योंकि हमें इनकी जानकारी नहीं है। किन्तु मैं इसका स्मरण दिलाना चाहता हूँ क्योंकि मैं कुछ असाधारण चीजों की चर्चा करने जा रहा हूँ जो घटित हो रहा है पर हमें ज्ञान नहीं है।" इस प्रकार वे फिजराल्ड-लॉरेन्ज कंट्रैक्शन (दिक् एवं काल का) को बतलाते हैं और जिसे हमलोग कर रहे हैं और हमें ज्ञान नहीं है।[१]

एडिंगटन के अनुसार फिजराल्ड लॉरेन्ज कंट्रैक्शन की अभिव्यक्ति मिनकॉस्की के दिक्-कालिक एकता के द्वारा होती है। दिक्-काल की एकता के आधार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मिलते हैं। वे कहते हैं-"हम मिनकॉस्की के दिक्-कालिक विश्व का इस प्रकार विभाजन करते हैं कि जिससे दिक् एवं काल का वैसा स्वरूप प्राप्त हो, जैसा दिखाई पड़ता है। हम कल्पना करते रहे हैं कि एक दिशा ऐसी मिले जो दिक् एवं काल को वास्तविक एवं निरपेक्ष दिक् एवं काल में विभाजित कर दे। लेकिन ऐसा क्यों होगा? हम दिक्-विश्व को इस प्रकार विभाजित करने का प्रयास नहीं करते हैं कि हमें वास्तविक क्षैतिज एवं उर्ध्व अंश प्राप्त हो।

---

१. दि ब्रिटिश साइन्टिस्ट्स ऑफ ट्वेन्टीएथ सेन्चुरी, पृ० १६६

किन्तु क्षैतिज एवं उर्ध्व का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा, जबतक कि पृथ्वी के विशेष स्थान के प्रंसग में इसका प्रयोग नहीं हो। इस प्रकार विशेष पर्यवेक्षक के लिए दिक्-कालिक विश्व अलग होकर चार भागों में बँट जाता है-यथा ऊपर-नीचे, दाहिने-बांयें, आगे-पीछे, जल्दी-देरी, किन्तु कोई पर्यवेक्षक यह दावा नहीं कर सकता कि यह एकमात्र एवं वास्तविक विभाजन है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन निरपेक्ष एवं काल सम्बन्धी विचार का खण्डन किया है।

अपनी पुस्तक "स्पेस, टाइम एण्ड ग्रैविटेशन" में सर एडिंगटन ने कहा है-" काल के बिना दिक् उतना ही अपूर्ण है जितना कि समतल बिना मोटाई के। वे आगे कहते हैं कि हमलोग यूक्लीड के दिक् में २,००० वर्ष तक विश्वास करते रहे क्योंकि माप इसकी पुष्टि करता था। अब हमें अपने विचार को बदलने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। वे जब भी दिक् के सम्बन्ध में कहते हैं तो दिक् का सीधा अर्थ होता है दिक् जो माप के द्वारा जाना जाता है, चाहे रेखागणित कोई भी है। वे आगे कहते हैं- "प्रस्ताव में बिना हिचकिचाहट के कहा जाता है कि जब माप की हुई लम्बाई यूक्लीड के रेखागणित के अनुरूप नहीं है, हमें इसे ठीक करना चाहिए, जब तक यह ठीक नहीं हो जाय।" एक विचार यह भी है कि दिक् न तो यूक्लीडीय यान अ-यूक्लीडीय है, यह परम्परा की बात है और हमलोग किसी रेखागणित को मानने के लिए स्वतंत्र हैं।" एडिंगटन ने परम्परावादी भौतिकशास्त्रीयों के पूर्व स्थित दिक् में विश्वास दिखलाता है और जिसपर प्रयोग नहीं किया जा सकता, इन भौतिकशास्त्रियों को दर्शन क्षेत्र की ओर ले जाता है। इसके विपरीत सापेक्षवादी प्रखर वस्तुवादी हैं क्योंकि वे दिक् की परिभाषा माप के माध्यम से करते हैं। उन्होंने इसके बाद फिजराल्ड कंट्रैक्शन की व्याख्या की है और व्याख्या सापेक्षवाद के सिद्धान्त की ओर ले जाती है।

उन्होंने एक हवावाज की कल्पना की है, जो १,६१,००० मील प्रति सेकेन्ड से उड़ रहा है। यदि वह अपने यान में चित लेटकर उड़ रहा हो प्रकाश रेखा की दिशा में तो हम प्राय: ३ फीट ऊँचाई के आकार पायेंगे,

किन्तु उसकी चौड़ाई एवं मोटाई सामान्य व्यक्ति जैसी होगी। किन्तु विचित्र बात है कि उसे अपने नाटे आकार का ज्ञान नहीं है। यदि वह अपने यान के शीशे में अपना चेहरा देखता है तो वह अपने सामान्य कद को देखता है। किन्तु जब वह नीचे देखता है तो हमलोगों को देखकर उसे आश्चर्य होता है कि व्यक्ति सपाट कहे गये हैं। यदि कोई अपने बाइनोकुलर से क्रिकेट का मैच देखता हो उसे इस प्रभाव का सही ज्ञान हो सकता है।[१] इस प्रकार उन्होंने प्रमाणित किया है कि फिजराल्ड कंट्रैक्शन एक तथ्य है, जिसमें सभी व्यक्ति विश्वास नहीं करते हैं क्योंकि इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। आइन्सटीन ने इस सत्य का उद्घाटन किया है जो आसानी से बोधगम्य नहीं है। उनका कहना है कि सब से खतरनाक पूर्व कल्पना वह है जो अन्तर्हित एवं अनभिज्ञ हो। उन्होंने दिखाया है कि ये पूर्व कल्पनाएं दिक् एवं काल को सरल रूप में जानने में बाधक हैं।

कभी सहज आदत, कभी जानबूझकर, हम पर्यवेक्षण में अपने हिस्से को अलग कर लेते हैं और इस प्रकार अपने से बाहर विश्व का चित्र बनाते हैं, जो सभी पर्यवेक्षकों के लिए समान होगा। समुद्र के क्षितिज पर एक छोटे विन्दु को बड़े जहाज जैसा बताया जाता है। रेल की खिड़की से हम गाय को पचास मील प्रति घण्टे की दर से भागते हुए देखते हैं किन्तु हम कहते हैं कि गाय खड़ी है। हमलोग तारे भरे आकाश को पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करते हुए देखते हैं किन्तु निर्णय करते हैं कि पृथ्वी ही परिक्रमा कर रही है।[२]

इस प्रकार उन्होंने प्रमाणित किया है कि फिजराल्ड कंट्रैक्शन एक तथ्य है, यद्यपि अधिकांश लोग इससे अनभिज्ञ हैं।

आइन्सटीन के सिद्धान्त ने इन तथ्यों को संगति एवं अर्थ प्रदान किया है जो ऊपर से असंगत लगते हैं। मिनकॉस्की ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा है–"मैंने जिस दिक् एवं काल के बोध को प्रतिपादित किया है, उसका आधार प्रायोगिक भौतिकशास्त्र है। यही उनकी शक्ति है।

---

१. दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ० १६९

२. वही

उनकी प्रवृत्ति क्रांतिकारी है। अब से दिक् एवं काल अलग-अलग छाया की तरह लुप्त हो गये और केवल दोनों का मिलन ही सत् है।

एडिंगटन ने मिनकॉस्की की अवधारणा पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा-"चतुर्आयामी विश्व तन्तुमय है, और धागे कालिक रास्ते में बिछे हुए हैं, यह एक उलझा हुआ ताना है, बिना एक बाना के।"

एडिंगटन दिक् के रेखागणितीय लक्षण पर विचार करते हैं। वे डब्लू॰ के॰ क्लिफोर्ड के शब्दों को उद्धृत करते हैं-"यह पूर्व कल्पना कि दिक् समतल नहीं है और फिर यह कि यह रेखागणितीय लक्षण काल के साथ बदल सकता है, भविष्य के भौतिकशास्त्र के लिए उपयोगी हो सकता है और नहीं भी, फिर भी हम इसे भौतिक घटनाओं की व्याख्या के लिए संभाव्य कल्पना के रूप में अस्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ये रेखागणितीय स्वयंसिद्ध सिद्धान्त लोकसम्मत अंधविश्वास का खण्डन करते हैं। जिस अंधविश्वास के आधार पर यूक्लीड की प्रतिभा के प्रति अंधभक्ति है।

एडिंगटन निषकर्षत: टिप्पणी करते हैं कि "निरपेक्ष विश्व में कोई आकृति अन्तर्हित नहीं है। वे आगे कहते हैं-"पदार्थ एवं ऊर्जा पर विचार कीजिए, विश्व की वक्रता के कारक के रूप में नहीं, बल्कि वक्रता के प्रत्यक्ष के अंश के रूप में।"

दिक् एवं काल की वक्रता की व्याख्या करने के लिए नीति कथा का सहारा लेते हैं। एक चिपटी मछली की प्रजाति एक समुद्र में द्विआयामी सतह पर रहती थी। ऐसा देखा गया कि सामान्य मछलियों का समूह सीधी रेखा में चल रहा है, जबतक की उनकी गति में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती थी। किन्तु एक स्थल पर कुछ तो चकित होकर अपने रास्ते को बदलकर तैरती थीं और कुछ उस स्थल के चारों ओर घूमती रहती थीं। एक मछली ने भंवर की बात की और बोली कि उस क्षेत्र में एक भंवर है जो सभी चीजों को बक्र रूप में ले जाती है। कालक्रम में एक अच्छे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि सभी मछलियों को बड़े आकार की सूर्य मछली की ओर आकर्षित होती है, जो उस क्षेत्र के मध्य

में सोयी हुई है, अत: मछलियाँ पथभ्रष्ट होती हैं। यह सिद्धान्त ऊपर से युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता सभी प्रकार की प्रायोगिक जाँच से प्रमाणित हुई है। सभी मछलियों में आकर्षण शक्ति उसके आकार के अनुपात में है। आर्कषण शक्ति का नियम सरल है किन्तु यह सभी प्रकार की गतियों की सही-सही व्याख्या करता है, जिसका ज्ञान पहले से नहीं था। कुछ मछलियाँ भुनभुनाने लगीं कि उन्होंने ऐसा कभी नहीं देखा कि इतनी दूरी से कैसे इतना प्रभावित किया जा सकता है। किन्तु यह सर्वसम्मत राय थी कि यह प्रभाव समुद्र के द्वारा पहुँचता है और इसकी अधिक जानकारी प्राप्त होगी यदि हम जल के स्वभाव को जान लें। इसपर सभी मछलियाँ अपने-अपने ढंग से आकर्षण शक्ति की व्याख्या के क्रम में उसके जल द्वारा संचारित होने का तरीका बतलाने लगी। उसने देखा कि चाहे मछली बड़ी थी या छोटी, वे एक ही रास्ते से जा रही थीं। यद्यपि बड़ी मछली के लिए पानी हटाने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होनी चाहिए थी। इसीलिए उसने पथ पर ध्यान दिया, न कि शक्ति पर। उसके बाद वह सभी चीजों की स्पष्ट व्याख्या पर पहुँच सकी। जहाँ सूर्य-मछली थी, उसके बगल में एक टीला था। चिपटी मछली द्विआयामी होने के कारण, सीधी रेखा में नहीं चल सकती थी, जब वह टीले के ढलान पर पहुँचती तो वह सीधी रेखा में ही तैरने की कोशिश करती थी, किन्तु उसे थोड़ा घूम कर जाना पड़ता था। यही रहस्य आकर्षण का था या पथ की वक्रता का, जो उसे क्षेत्र में अनुभव होता था।

एडिंगटन का कहना है कि क्रियाही विश्व की वक्रता है। क्रिया=द्रव्यमान या शक्ति-काल।

एडिंगटन ने एन्ट्रॉपी की व्याख्या की है। एन्ट्रॉपी भौतिक अवस्था में अव्यवस्था को कहते हैं। इसकी व्याख्या ताश के पत्ते के फेटने से करते हैं। वे कहते हैं कि यह विषय प्रासंगिक है क्योंकि इसका प्रभाव काल समस्या के गंभीर पक्ष पर पड़ता है।[१] वे आगे कहते हैं कि नये ताश की एक गड्डी को लें और उसे कुछ मिनट फेंटे तो पुराना जोड़ा कभी नहीं आयेगा, चाहे कितना भी हम फेंटे। ताश के पत्ते पुरानी सजावट लौट

---

१. दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ६३

सकती है किन्तु वह संयोग या संभावना पर निर्भर है, जिसे वे संयोग का भूत कहते हैं। यह गद्दी में सीमित संख्या में पत्ते के रहने के कारण शायद होता है। किन्तु जहाँ बड़ी संख्या के अणु रहते हैं वहां सम्भावना बहुत कम रहेगी क्योंकि अणुओं की संख्या अनन्त है। एडिंगटन के काल की अवधारणा को बढ़ती हुई एन्ट्रॉपी या अव्यवस्था से जोड़ दिया है जो विश्व में असंख्य अणुओं के फेंटने से पैदा होता है। दिक्-कालिक नक्शा भूत से भविष्यत या भवष्यित् से भूत में परिवर्तन की दिशा नहीं बताता है। उनका कहना है-"यह भ्रामक है कि हमें बाह्य जगत् में सम्भवन (बिकमिंग) का ज्ञान नहीं है। वह गतिशील गुण जो भूत से भविष्यत् के विकास को तर्कसंगत बनाता है और भविष्यत् में भूत के विकास को अर्थहीन, उसे नस के कमान को खींचने से अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। यह हमारी चेतना में इतना घुला-मिला हुआ है कि काल की गतिशीलता हमारी चेतना का अंश है। हमलोगों को संभवन या विकमिंग का सीधा ज्ञान है। सत् का बोध इसलिए होता है कि मैं स्वयम् हूँ, उसी प्रकार मैं संभवन की भावना को ग्रहण करता हूँ क्योंकि मैं स्वयम् होता हूँ। यह मनुष्य का अन्तःकरण है, जो है और होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एडिंगटन "संभवन" एवं "एन्ट्रॉपी" का एकीकरण नहीं करते हैं किन्तु एन्ट्रॉपी को संभवन या बिकमिंग का आधार मानते हैं। मनुष्य की काल एवं संभवन सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि एन्ट्रॉपी से ली गयी है या फिर मस्तिष्क की घड़ी से।

ब्रेथवेट के अनुसार एन्ट्रॉपी काल प्रवाह की व्याख्या नहीं कर सकता, जैसा कि एडिंगटन मानते हैं, क्योंकि एन्ट्रॉपी सदा नहीं बढ़ती। वे आगे कहते हैं कि काल अवधारणा भौतिक सिद्धान्तों में नहीं भी मिल सकती है किन्तु भौतिक जगत् की हमारी चेतना से उद्‌भूत हो सकती है।"[1]

एन्ट्रॉपी का सिद्धान्त बतलाता है कि विश्व में अव्यवस्था बढ़ रही है। संघटित विश्व धीरे-धीरे विघटित हो रहा है। यह भी माना जाता है कि कल का विश्व आज से अधिक संघटित था। किन्तु यह काल में पीछे जाने की पद्धति अनन्त तक नहीं जा सकती। बढ़ते हुए संघटन की एक निश्चित सीमा है। इस प्रकार एन्ट्रॉपी का सिद्धान्त हमें विश्व को सादि

१. दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ६३

मानने का संकेत करता है। इस आधार पर, हमें मानना है कि पूर्ण संघटित विश्व भूतकाल में अकस्मात् अस्तित्त्व में आ गया और तब से धीरे-धीरे इसका क्षय हो रहा है। यह क्षय की प्रक्रिया हमें काल की वास्तविक शुरुआत तक ले जाती है।

जे॰ डब्लू॰ एन॰ सुलिमान ने कहा है - "यह आश्चर्य की बात है कि एक चमत्कृत परिदृश्य अकस्मात् अस्तित्त्व में कुछ समय पहले आ गया। यह सर्वशक्ति सम्पन्न हो शून्य से पैदा हो गया और अपनी पूरी रफ्तार से मृत्यु वरण के लिए आगे बढ़ रहा है। यही वैज्ञानिक व्याख्या है। यह सत्य है किन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह पूर्ण सत्य है"।[१]

एडिंगटन ने दिक् एवं काल की अनन्तता की समीक्षा की है। वे आइन्सटीन की तरह मानते हैं कि दिक् सान्त और बिना सीमा के है। किन्तु अनन्तता का प्रश्न बना रहता है क्योंकि कहा जाता है कि "विश्व दिक् आयाम में बन्द है किन्तु काल आयाम दोनों ओर खुला है। एडिंगटन ने कहा है-"मैं अनन्त भविष्यकाल के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई अनुभव नहीं करता हूँ। ए॰ डी॰ (अंग्रेजी) के सम्बन्ध में कठिनाई नहीं होगी जबतक कि ए॰डी॰ तक नहीं पहुँचेगें और जब ए॰डी॰ पर पहुँच जायेंगे तबतक कठिनाई स्वत: दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त ऊष्मा-गति का दूसरा नियम बतलाता है कि पूर्ण विश्व ऊष्मा-गतिकीय साम्यावस्था में एक अनन्त दूरी की तिथि को पहुँच जायगा। इस साम्यवस्था में काल के तीर का आगे बढ़ना पूर्णत: रुक जायेगा। अब अनन्त भूत की समस्या रह जाती है। यह बोधगम्य नहीं है कि भूत में एक ऐसा क्षण भी था जबकि क्षण नहीं हो। यह कठिनाई एन्ट्रॉपी के सिद्धान्त से दूर हो जाती है, जिसमें काल की शुरुआत मानी गयी है। इस प्रकार एडिंगटन दिक् एवं काल को ससीम मानते हैं।

एडिंगटन ने दिक् के आयतन पर भी विचार किया है। उनके अनुसार दिक् का विशेष आयतन नहीं है क्योंकि यह निरन्तर विस्तृत हो

---

१. माइन्ड, ३८, १९२९

सकती है किन्तु वह संयोग या संभावना पर निर्भर है, जिसे वे संयोग का भूत कहते हैं। यह गद्दी में सीमित संख्या में पत्ते के रहने के कारण शायद होता है। किन्तु जहाँ बड़ी संख्या के अणु रहते हैं वहां सम्भावना बहुत कम रहेगी क्योंकि अणुओं की संख्या अनन्त है। एडिंगटन के काल की अवधारणा को बढ़ती हुई एन्ट्रॉपी या अव्यवस्था से जोड़ दिया है जो विश्व में असंख्य अणुओं के फेंटने से पैदा होता है। दिक्-कालिक नक्शा भूत से भविष्यत या भवष्यित् से भूत में परिवर्तन की दिशा नहीं बताता है। उनका कहना है-"यह भ्रामक है कि हमें बाह्य जगत् में सम्भवन (बिकमिंग) का ज्ञान नहीं है। वह गतिशील गुण जो भूत से भविष्यत् के विकास को तर्कसंगत बनाता है और भविष्यत् में भूत के विकास को अर्थहीन, उसे नस के कमान को खींचने से अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। यह हमारी चेतना में इतना घुला-मिला हुआ है कि काल की गतिशीलता हमारी चेतना का अंश है। हमलोगों को संभवन या विकमिंग का सीधा ज्ञान है। सत् का बोध इसलिए होता है कि मैं स्वयम् हूँ, उसी प्रकार मैं संभवन की भावना को ग्रहण करता हूँ क्योंकि मैं स्वयम् होता हूँ। यह मनुष्य का अन्तःकरण है, जो है और होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एडिंगटन "संभवन" एवं "एन्ट्रॉपी" का एकीकरण नहीं करते हैं किन्तु एन्ट्रॉपी को संभवन या बिकमिंग का आधार मानते हैं। मनुष्य की काल एवं संभवन सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि एन्ट्रॉपी से ली गयी है या फिर मस्तिष्क की घड़ी से।

ब्रेथवेट के अनुसार एन्ट्रॉपी काल प्रवाह की व्याख्या नहीं कर सकता, जैसा कि एडिंगटन मानते हैं, क्योंकि एन्ट्रॉपी सदा नहीं बढ़ती। वे आगे कहते हैं कि काल अवधारणा भौतिक सिद्धान्तों में नहीं भी मिल सकती है किन्तु भौतिक जगत् की हमारी चेतना से उद्भूत हो सकती है।"[1]

एन्ट्रॉपी का सिद्धान्त बतलाता है कि विश्व में अव्यवस्था बढ़ रही है। संघटित विश्व धीरे-धीरे विघटित हो रहा है। यह भी माना जाता है कि कल का विश्व आज से अधिक संघटित था। किन्तु यह काल में पीछे जाने की पद्धति अनन्त तक नहीं जा सकती। बढ़ते हुए संघटन की एक निश्चित सीमा है। इस प्रकार एन्ट्रॉपी का सिद्धान्त हमें विश्व को सादि

१. दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ६३

मानने का संकेत करता है। इस आधार पर, हमें मानना है कि पूर्ण संघटित विश्व भूतकाल में अकस्मात् अस्तित्त्व में आ गया और तब से धीरे-धीरे इसका क्षय हो रहा है। यह क्षय की प्रक्रिया हमें काल की वास्तविक शुरुआत तक ले जाती है।

जे० डब्लू० एन० सुलिमान ने कहा है - "यह आश्चर्य की बात है कि एक चमत्कृत परिदृश्य अकस्मात् अस्तित्त्व में कुछ समय पहले आ गया। यह सर्वशक्ति सम्पन्न हो शून्य से पैदा हो गया और अपनी पूरी रफ्तार से मृत्यु वरण के लिए आगे बढ़ रहा है। यही वैज्ञानिक व्याख्या है। यह सत्य है किन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह पूर्ण सत्य है"।[१]

एडिंगटन ने दिक् एवं काल की अनन्तता की समीक्षा की है। वे आइन्सटीन की तरह मानते हैं कि दिक् सान्त और बिना सीमा के है। किन्तु अनन्तता का प्रश्न बना रहता है क्योंकि कहा जाता है कि "विश्व दिक् आयाम में बन्द है किन्तु काल आयाम दोनों ओर खुला है। एडिंगटन ने कहा है-"मैं अनन्त भविष्यकाल के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई अनुभव नहीं करता हूँ। ए० डी० (अंग्रेजी) के सम्बन्ध में कठिनाई नहीं होगी जबतक कि ए०डी० तक नहीं पहुँचेगें और जब ए०डी० पर पहुँच जायेंगे तबतक कठिनाई स्वतः दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त ऊष्मा-गति का दूसरा नियम बतलाता है कि पूर्ण विश्व ऊष्मा-गतिकीय साम्यावस्था में एक अनन्त दूरी की तिथि को पहुँच जायगा। इस साम्यवस्था में काल के तीर का आगे बढ़ना पूर्णतः रुक जायेगा। अब अनन्त भूत की समस्या रह जाती है। यह बोधगम्य नहीं है कि भूत में एक ऐसा क्षण भी था जबकि क्षण नहीं हो। यह कठिनाई एन्ट्रॉपी के सिद्धान्त से दूर हो जाती है, जिसमें काल की शुरुआत मानी गयी है। इस प्रकार एडिंगटन दिक् एवं काल को ससीम मानते हैं।

एडिंगटन ने दिक् के आयतन पर भी विचार किया है। उनके अनुसार दिक् का विशेष आयतन नहीं है क्योंकि यह निरन्तर विस्तृत हो

---

१. माइन्ड, ३८, १९२९

रहा है। वे कहते हैं -"आकाशगंगा का विस्तार होगा। यही आधार है, जो हमें विस्तृत होते हुए दिक् की ओर उन्मुख करता है और साथ ही विस्तृत होते हुए भौतिक तंत्र की ओर भी"।[१]

एलेक्जेन्डर के दर्शन में दिक् एवं काल को प्रमुख स्थान दिया है। उन्होंने इसे विश्व विकास का आधार माना है। उनके अनुसार दिक्-काल बहुत ही सार तत्त्व है और इस पदार्थ से जीवन, चेतना एवं देवता का विकास धीरे-धीरे ऊपर चढ़ते हुए हो रहा है। वे आधुनिक विज्ञान की प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए हैं किन्तु उनका दिक्-काल का सिद्धान्त मौलिक है। इस प्रकार दिक्-काल के अन्योन्याश्रय एवं अन्त:सम्बन्ध को उन्होंने मिनकॉस्की से उधार लिया है और इसकी व्याख्या नये एवं मौलिक ढंग से की है। यह मान्य विचार है कि पदार्थ आदि स्थान छेंकता है किन्तु एलेक्जेन्डर मानते हैं कि दिक् में इस प्रकार का पदार्थ नहीं है किन्तु ऐसे पदार्थों की उत्पत्ति अपनी गति से कर सकता है।

आधुनिक विज्ञान के विपरीत, काल, दिक् का मात्र चतुर्थ आयाम नहीं है। बल्कि दिक् का प्रत्येक आयाम काल के सामानान्तर अंश पर निर्भर है। वर्गसाँ के विपरीत एलेक्जेन्डर ने काल का दिक्कीकरण इसमें निरन्तरता लाने के लिए किया है। उनका कहना है कि दिक् एवं काल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। साधारण व्यक्ति दिक् एवं काल को अलग-अलग मानते हैं किन्तु यह पृथक्करण का फल है। एलेक्जेन्डर ने कहा है- "थोड़े चिन्तन के बाद यह पता चलता है कि दिक् एवं काल अन्योन्याश्रय हैं। यहाँ तक कि काल के बिना दिक् नहीं है और दिक् के बिना काल नहीं है। दिक् स्वभावत: कालिक है और काल स्थानिक है।[२] वे तर्क देते हैं कि काल स्वयम् और बिना दिक् के विच्छिन्न क्षणों का क्रम है और उन्हें एक सूत्र में बाँधने के लिए कोई तत्त्व नहीं है। निरन्तरता दिक् को काल में प्रविष्ट होने के कारण है। केवल काल की काल का कालपन, इसके क्रम में निरन्तरता के लिए कोई स्थान नहीं है............ .....फिर भी दोनों काल में साथ-साथ रहते हैं। यदि भूत क्षण समाप्त नहीं हो तो काल के अतिरिक्त दूसरे सातत्यक की आवश्यकता होगी जो भूत

१. एडिंगटन, न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० २१८

२. एलेक्जेन्डर, स्पेस, टाइम्स एण्ड डीटी, पृ० ४४

एवं वर्तमान को जोड़ सके। यह दूसरा सातत्यक दिक् है जो काल को मात्र "अब" होने से बचाता है।[१] इस प्रकार काल, जो दिक् में प्रविष्ट होता है, वह बहुलता एवं अनेकता उत्पन्न करता है।

दिक् स्वयम् बिना काल के मात्र विस्तार रहेगा, जिसमें विभेद एवं विविधता नहीं रहेगी। एलेक्जेन्डर ने कहा है- "काल" जो कालिक था, मात्र"अब" में परिणत हो गया और दिक्, जो केवल स्थानिक है, वह शून्य में परिणत हो जाता है। इसमें कोई विभेदक तत्त्व नहीं रहेगा। लेकिन सातत्यक बिना पदार्थ के सातत्यक नहीं है। वह विभेद दिक् के सर्वग्राह्यता के लक्षण से उत्पन्न नहीं होता। अत: किसी पदार्थ, जो देशिक नहीं है, का होना आवश्यक है। यह दिक् विभिन्न हिस्से को अलग-अलग करता है। यह दूसरी सत्ता, काल है।[२]

इस प्रकार दिक् एवं काल परस्पर निर्भर हैं। एलेक्जेन्डर के अनुसार दिक् के बिना काल में सम्बद्ध नहीं होगा और बिना काल के कोई विन्दु सम्बद्ध करने के लिए नहीं मिलेगा।[३]

एलेक्जेन्डर के अनुसार "काल का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसे दिक् में स्थान नहीं है और दिक् का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसे काल में स्थान नहीं हो"।[४] यह संभव नहीं है कि दिक् के किसी अंश के बारे में सोचें, जो विशेष दिन या तिथि पर न हो और इसी तरह एक विशेष काल नहीं सोचा जा सकता है, बिना यह सोचे कि यह दिक् में स्थित पदार्थ के साथ सम्बन्धित है। इस प्रकार सत्ता स्थान-क्षण सातत्यक है। दूसरे शब्दों में, दिक्-काल, वह तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है। एलेक्जेन्डर ने निरन्तर विकास का चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें रिक्ति नहीं है। वे दिखलाते हैं कि विशेष बोध दिक्-काल से विकसित होता है, जो विशुद्ध बोध है। इसके बाद जीव की उत्पत्ति होती है। वे जोर देकर कहते हैं कि जीव पदार्थ से उत्पन्न होता है फिर भी दोनों में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। एलेक्जेन्डर विकास के क्रम में मस्तिष्क

१. एलेक्जेन्डर, स्पेस, टाइस एण्ड डीटी, पृ० ४६

२. वही, पृ० ४७

३. वही, पृ० ४६

४. वही, पृ० ४७

को भी विशेष स्थान नहीं देता है। उनके अनुसार मस्तिष्क में भी देशिक-कालिक गुण हैं। उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं। स्मरण की मानसिक क्रिया में, हम विशेष घटना का स्मरण विशेष स्थान एवं काल के प्रसंग में करते हैं। इस प्रकार मानसिक क्रिया या मस्तिष्क दिक्-काल में पाया जाता है। अतः ऐसा मानना युक्तिसंगत है कि मस्तिष्क भी दिक्-काल के तत्त्व से बना हुआ है।

एलेक्जेन्डर के अनुसार मूल्य इसके बाद विकसित हुआ। किन्तु वे मूल्य को विषयगत नहीं बना सके। यह ध्यान देने की बात है कि विकास से उत्पन्न पदार्थ, यथा ससीम गति, पदार्थ, जीव, मस्तिष्क आदि सत्ता का गुण है। वे अपने अस्तित्त्व के लिए मस्तिष्क या चेतना पर निर्भर नहीं हैं। दोनों ही प्रधान गुण एवं गौण गुण विषयगत हैं। किन्तु मूल्य मस्तिष्क पर निर्भर है। मस्तिष्क पर निर्भर मूल्य में सत्ता नहीं है और इस प्रकार एलेक्जेन्डर का दर्शन निरा प्रत्ययवाद बन जाता है। एलेक्जेन्डर मूल्य की सत्ता को बचाने के लिए कहते हैं कि मूल्य एक सत्ता है, यद्यपि यह सत्ता गुण नहीं है। उनका भी विकास दिक्-काल से हुआ है।

दिक्-काल से सबसे ऊँचा निर्गत तत्त्व ईश्वर है। विकास की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए एलेक्जेन्डर ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि ईश्वर भी अन्य पदार्थों की तरह दिक्-काल से निर्गत हुआ है। वे ईश्वर को उच्च सथान नहीं देते। उनके अनुसार ईश्वर विश्व के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। ईश्वर भी अन्य जन्तुओं की तरह अपूर्ण हैं। उन्होंने विकास के क्रम में ऊँचा स्थान दिया है किन्तु यह धार्मिक चेतना को संतुष्ट नहीं कर सकता।

उद्‌गामी विकासवाद के सिद्धान्त में ईश्वर की भूमिका तर्क संगत नहीं जान पड़ती। वे ईश्वर को अन्तिम विकास से निर्गत पदार्थ मानते हैं और साथ ही ईश्वर को विश्व का आधार भी मानते हैं, यह विचित्र स्थिति है।

दिक् एवं काल विकास का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकते, बल्कि ईश्वर अन्तिम लक्ष्य है।[१]

---

१. एलेक्जेंडर--स्पेस, टाइस एण्ड डीटी, भाग-२, पृ० ३८१

निष्कर्ष की समीक्षा

अथर्ववेद[१] में काल को शृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता माना गया है। यह "काल" सीमित काल, यथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् का श्रोत है किन्तु यह स्वयम् "कालावधि" नहीं है बल्कि "काल से परे" नित्य तत्त्व है, जिसमें गतिशील काल सदा वर्तमान रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् दो प्रकार के काल की चर्चा करता है, जो ब्रह्म के दो पक्ष हैं–काल एवं कालातीत। कालातीत काल को ब्रह्म के साथ एकीकृत किया जाता है। ब्रह्म के समकक्ष माना गया है किन्तु यह ब्रह्म के अपार विस्तार को बताने के लिए किया जाता है, क्योंकि साधारण व्यक्ति विराट स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता है। वस्तुत: ब्रह्म देशिक एवं कालिक अवधारणा से परे है।

महाकाव्यों एवं पुराणों में काल को आदि कारण माना गया है। कभी-कभी काल को परमेश्वर से भी ऊपर माना गया है। काल ब्रह्मा के भी विनाश का कारण है। यह अव्यक्त का प्रमुख गति प्रदान करने वाला है। कुछ पुराणों में काल को ईश्वर की शक्ति माना गया है, जो ईश्वर की इच्छा से गतिशील होती है। इस प्रकार निमित्त कारण है। पुराणों में काल की नित्यता, अनन्तता एवं गतिशीलता को स्वीकार किया गया है।

पुराणों एवं महाकाव्यों में काल को दैव माना जाता है। दैव स्वेच्छा से करने वाले की सहायता करता है किन्तु अनिच्छुक को करने के लिए बाध्य कर देता है। यह अन्तर्भूत नियति है, बाह्य दबाव नहीं। दैव को पाश्चात्य दर्शन एवं धर्म में भी प्रमुख स्थान दिया गया है। अणुवादी इन

---

१. अथर्ववेद, XIX. ५३-५४

शब्दों में स्वीकार करता है–"प्रत्येक चीज विशेष आधार से उत्पन्न होती है और नियति उसे संचालित करती है।" सुकरात की यह उक्ति–"कोई स्वेच्छा से बुराई नहीं चुन सकता"–से यह संकेत मिलता है कि मनुष्य अपने किये हुए कर्म के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" एवं "लॉज" में मानव स्वातंत्र्य की वकालत की है किन्तु अन्त में कहते हैं "मनुष्य ईश्वर का खिलौना है।"[१] प्रकृति के स्वभाव की चर्चा करते हुए, उन्होंने कहा इसकी नित्य कालावधि संयोग के द्वारा नियंत्रित होती है।[२] ईश्वर भी दैव से प्रभावित होता है। स्पिनोजा दैव के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने कहा है–"गौरवपूर्ण इच्छा स्वातंत्र्य अंततः मात्र नियति की चेतना है।"[३] भर्जिल, रोमन कवि, ने होमर के दैव के सिद्धान्त का समर्थन किया है।[४] इस प्रकार लाइबनीज, अपनी पुस्तक "ट्रीटाइज ऑन इविल" में, सभी स्वतंत्रता की बात को मात्र कल्पना मानते हैं। वे आगे कहते हैं कि हमारी सारी क्रियाएं नियति के द्वारा संचालित होती हैं। हॉब्स, लॉक, ह्यूम आदि ने भी नियति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। हेगेल नियति के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं और वे पूर्व स्थापित सामंजस्य के प्रवक्ता हैं। यह दैव या भाग्यवाद का दर्शन दीर्घ एवं दुखद अनुभव पर आधारित है। वीर पुरुष ने काल प्रवाह के विपरीत अपनी पूरी शक्ति के साथ युद्ध किया और उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसके विपरीत साधारण व्यक्ति ने काल प्रवाह की दिशा का अनुसरण करते हुए अपनी साधारण शक्ति से ही दुश्मन का मुकाबला किया और वह विजयी हुआ। वीर पुरुष मात्र काल-ज्वार पर सवारी करता है। उनकी कमजोरियाँ भी शक्ति में परिणत हो जाती हैं। वह निश्चय ही सफलता प्राप्त करता है। उनके दुश्मन, यद्यपि वीर तथा अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होते हैं, फिर भी असफल होते

---

१. रिपब्लिक, VII. १८५

२. मेटाफिजिक्स, VIII. ८

३. एथिक्स, II-४९

४. इनिड

हैं क्योंकि उन्हें भाग्य साथ नहीं देता। पुराण एवं महाकाव्य में निरे भाग्यवाद की चर्चा है। पुराण एवं महाकाव्य के रचयिता अच्छी तरह जानते थे कि दैव का सिद्धान्त वीरत्व के प्रतिकूल है। अतः उन्होंने पुरुषकार को दैव से अधिक महत्व दिया है और वे मानते हैं कि पुरुषकार दैव को पराजित कर सकता है किन्तु दैव के प्रवक्ता एवं पुरुषकार के समर्थक किसी निर्णय पर नहीं पहुंचे। दोनों शक्तियों की वरीयता के संबंध में अनिर्णय की स्थिति अन्य ग्रंथों में भी है। गाथा साहित्य के एक अध्ययन में जोरास्टर ने कहा है–"शुरू में दो प्रवृत्तियां थीं, अच्छाई एवं बुराई। अच्छाई चुन लो और बुराई छोड़ दो"।[१] बौद्ध धर्म में स्पष्टतः कहा गया है कि मनुष्य को इच्छा स्वातंत्र्य है। यहूदियों के धर्मग्रंथ में मानव के इच्छा स्वातंत्र्य को महत्व दिया गया है। बाइबल में इच्छा स्वातंत्र्य की ही चर्चा है। कुरान शरीफ में भाग्यवाद को महत्व दिया गया है। सुन्नी भाग्यवाद को मानते हैं तो शिया इच्छा स्वातंत्र्य को महत्व देता है।

डेकार्ट स्वीकार करता है कि बुद्धि नियति के नियम के अन्तर्गत है किन्तु साथ ही इच्छा स्वातंत्र्य की भी वकालत करता है।

हितोपदेश में दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इन दोनों को एक दूसरे का पूरक माना गया है। यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् एवम् पुरुषकारेण विना दैवम् न सिद्ध्यते। याज्ञवल्क्य ने भी हितोपदेश के विचार का समर्थन किया है। कान्ट के अनुसार प्रकृति एवं इच्छा स्वातंत्र्य साथ-साथ रह सकती है। इस प्रकार वे भाग्य एवं पुरुषकार के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं।

पुराण एवं महाकाव्य में सीमित काल एवं अनन्त काल के बीच अन्तर बतलाया गया है। निरपेक्ष काल अविभाज्य, अनन्त एवं नित्य है, सापेक्ष काल विभाज्य, सीमित तथा विनाशवान् है। युग, मन्वन्तर एवं कल्प आदि में विभाजन किया गया है। स्टोइक दार्शनिक, काल के असंख्य विभाजन को मानते हैं।

---

१. यश्न, XXX. ३

काल की तुलना जादूगर से की जाती है जो सृष्टि एवं प्रलय के चक्र का संचालन करते हैं।

पुराण एवं महाकाव्य में सापेक्षवाद के सिद्धान्त की झलक मिलती है। युग, मन्वन्तर एवं कल्प आदि से पता चलता है कि काल सापेक्ष सत्ता है, निरपेक्ष नहीं। सापेक्षवाद का विकसित रूप योगवासिष्ठ एवं भगवद्गीता में मिलता है। आधुनिक भौतिकशास्त्र सापेक्षवाद के सिद्धान्त का समर्थन करता है। पॉल ब्रन्टन ने कहा है–"दु:ख घंटे की लम्बाई बढ़ा देता है और खुशी उन्हें बहुत छोटा बना देता है। दर्द की बीमारी का समय बहुत लम्बा प्रतीत होता है, किन्तु सुखमय जीवन क्षणों में बीत जाता है। किन्तु ये सभी उदाहरण आत्मपरक सापेक्षवाद के हैं।" वे आगे कहते हैं–"काल स्वयम् मानसिक प्रत्यय है।"[१]

ऑसबॉर्न ने कहा है–"इसकी सबूत है कि चेतना प्रत्यक्ष से सम्पर्क स्थापित करने के लिए विस्तृत हो सकती है। इस विचार भूमि की घटनाएं काल की दृष्टि से अलग-अलग गति से घट सकती हैं–जिससे कि एक भूमि का घंटा इसकी भूमि में "क्षण" के बराबर हो।[२] एडिंगटन कहते हैं–" आइन्सटीन ने दिखलाया है कि भौतिकशास्त्र में दिक् एवं काल पर्यवेक्षक के प्रसंग में पूर्णत: सापेक्ष हैं और पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भौतिक़ पदार्थ पर निर्भर हैं, गणित की दृष्टि से कई प्रकार के दिक् होते हैं"।

जेम्स क्लार्क कहते हैं–"हमारे सारे ज्ञान, काल एवं दिक् दोनों के पूर्णत: सापेक्ष हैं।''

काल को वास्तविक व्यक्तित्त्व वाला माना जाता है, जो सृष्टि का आधार है। इस प्रकार का काल अरस्तू के विचार से मिलता-जुलता है। काल की गतिशीलता पर सभी महाकाव्यों में जोर दिया जाता है। पुराणों एवं उप-पुराणों में भी इस पक्ष पर विचार किया गया है। काल के इस पक्ष को निरपेक्ष काल एवं सापेक्ष काल दोनों में देख सकते हैं।

---

१. दि केस्ट ऑफ ऑवर सेल्फ, ब्रंटन, पृ० ११६

२. दि सुपरफिजिकल, ऑस बॉर्न, पृ० १३७

बौद्ध दर्शन में वर्णित काल की अवधारणा तीन प्रकार की है–

(क) दिक् एवं काल स्वतंत्र सत्ताएँ मानी जाती हैं।

(ख) दिक् एवं काल मानसिक प्रत्यय हैं।

(ग) दिक् एवं काल को मूलभूत इकाई माना जाता है और इकाइयाँ गतिशील हैं।

पहला विचार सर्वास्तिवादियों का है, जिनका विचार है–सर्वम् अस्ति। वे कहते हैं, भूत है, वर्तमान है और भविष्यत् है। वे तीनों कालों को द्रव्य मानते हैं। वे दिक् एवं काल को उतना ही सत् मानते हैं, जितना कि निर्वाण। यह कथावस्तु में मिलता है। इस विचार का समर्थन जैन एवं न्याय दर्शन तथा न्यूटन और प्रो॰ जेम्स के द्वारा भी हुआ है।

जैन दर्शन के अनुसार दिक् एवं काल दो स्वतंत्र सत्ताएं हैं। उन्हें द्रव्य माना जाता है। न्याय-वैशषिक दिक् एवं काल को विशेष मानता है, सामान्य नहीं। सर जेम्स जीन्स ने कहा "न्यूटन के अनुसार सभी पदार्थों को उसके निरपेक्ष दिक् में स्थान मिलता है और जहाँ कहीं भी घटनाएं घटती हैं, उसे निरपेक्ष काल प्रवाह में विषयगत रूप में स्थान मिलता है"।

प्रो॰ जेम्स कहते हैं कि प्रत्येक संवेदना में विस्तार का विचार ही दिक् का मौलिक विचार है, जिससे दिक् का ज्ञान हमें मिलता है।

यह दिक् एवं काल का सिद्धान्त १७वीं शताब्दी के वैज्ञानिक ज्ञान के अनुरूप है। किन्तु आधुनिक जाँच से पता चलता है कि दिक् एवं काल कुछ जटिलतत्त्व "यथा दिक्-काल सातत्यक का पृथक्कृत अंश एवं छांट है"।

आधुनिक विज्ञान में जैन दर्शन की दिक् एवं काल को स्वतंत्र सत्ता मानने की प्रवृत्ति देखी जाती है, किन्तु इसे अभी तक सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। एडिंगटन के शब्दों में–"काल पदार्थ से अधिक भौतिक सत्ता है।"[१]

जैन दर्शन के अनुसार सत् वह है, जिसमें उत्पत्ति, क्षय एवं ध्रौव्य हो। पदार्थ एवं ऊर्जा संरक्षण नियम के अनुसार नाशवान् पदार्थ में भी

---

१. एडिंगटन, दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ॰ ३६

स्थायित्व है। डिमोक्रीटस ने कहा है-"नहीं, कुछ से कुछ की उत्पत्ति नहीं हो सकती और कुछ से नहीं कुछ नहीं निकल सकता। जैन दर्शन व्यवहार काल एवं निश्चय काल का अन्तर स्पष्टत: बतलाता है। आधुनिक विज्ञान इस विचार का समर्थन करता है। एडिंगटन कहते हैं-"विधित: जो भी काल हो, किन्तु वस्तुत: सौरशास्त्रियों का काल ही वास्तविक काल है।

काल केवल एक प्रदेश में रहता है, अत: इसमें वर्तना है। वर्तना ही काल का लक्षण है। वर्गसां का कहना है कि "काल की निरन्तरता विस्तार अनुपस्थिति के कारण है"। आइन्सटीन की तरह जैन दर्शन भी मानता है कि काल एक आयाम का है। एडिंगटन के अनुसार "मैं काल का तीर" शब्द का प्रयोग करूँगा क्योंकि दिक् में इसका समानान्तर अंश नहीं है"। काल की अनन्तता को आइन्सटीन के द्वारा इन शब्दों में स्वीकार किया गया है: "विश्व दिक् आयाम में बन्द है किन्तु काल आयाम में दोनों तरफ खुला हुआ है"।

जैन दर्शन के कालाणु की तुलना आधुनिक विज्ञान "विश्वव्यापी क्षण से" की जाती है। जैन दर्शन में आकाश को अनन्त माना गया है। इस विचार की समानता सापेक्षवाद के पूर्व की धारणाओं से है। एडिंगटन का कहना है कि "दिक् सीमित है किन्तु इसका अन्त नहीं है"।[१]

न्याय-वैशेषिक दिक् एवं काल को मूलभूत एवं विषयगत सत्ता मानता है। वे उतने ही सत् हैं जितना की पृथ्वी, जल, अग्नि आदि। न्याय-वैशेषिक का वस्तुवाद अवैज्ञानिक वस्तुवाद है। यह वस्तुवाद विश्व को दिक् एवं काल में स्थित मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार दिक् एवं काल अन्य चीजों से अधिक मूलभूत एवं सत् है। यह दर्शन दिक् एवं काल को द्रव्य मानता है किन्तु यह भी मानता है कि द्रव्य दिक् एवं काल में रहता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा दिक् में नहीं रहती किन्तु काल में रहती है। न्याय-वैशेषिक अवैज्ञानिक वस्तुवाद की तरह मानता है कि विश्व दिक्-कालिक क्रम है।

---

१. एडिंगटन, दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ४०

न्याय-वैशेषिक दिक् एवं काल को रिक्त पात्र मानता है। इस विचार की समानता न्यूटन के दिक् एवं काल संबंधी विचार से है। द्रव्य के अस्तित्त्व को दिक् के बिना सोचा नहीं जा सकता। दिक् को रिक्त पात्र मानना पृथक्करण है। इसी प्रकार रिक्त काल को भी पृथक्करण मानना चाहिए।

पाश्चात्य दर्शन में कान्ट को भी समान कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है क्योंकि वे भी काल विषयगत सत्ता मानते हैं और साथ ही विश्व की वस्तुओं से भिन्न मानता है। उनके अनुसार दिक् एवं काल को प्रत्यक्ष का आकार मानते हैं, जिसे मस्तिष्क अन्दर से प्रदान करता है।

वर्गसाँ एवं एलेक्जेन्डर इस विचार से सहमत नही हैं। वे दिक् एवं काल को रिक्त पात्र नहीं मानते, जिन्हें बाहर की वस्तुओं से भरा जाता है। वे दिक् एवं काल को प्रत्यक्ष का आकार भी नहीं मानते। वर्गसाँ के अनुसार काल, वह शक्ति है, जो निर्माण करता है और परिवर्तित करता है। वर्गसाँ ने कहा है "काल प्रवाह ही सत्ता है, और जो वस्तुएं स्थिर हैं, वे ही प्रवाहित होती हैं"।[१] दिक् के लिए वे कहते हैं–"मस्तिष्क वस्तुओं में दिक् को पाता है, किन्तु इसके बिना भी दिक् को पा सकता था यदि वह अपने विचार को उल्टी दिशा में अन्त तक ले जा सकता।"[२] इस प्रकार वर्गसाँ का विचार कुछ संशोधन के साथ कांट के विचार जैसा है। वर्गसाँ दिक् को काल के समान मूलभूत माना है। एलेक्जेन्डर दिक् एवं काल को भिन्न सत्ताएं नहीं मानता है।[३] वह दिक् एवं काल को एक ही सत्ता मानते हैं। वह आगे कहते हैं कि दिक्-काल, वह तत्त्व है, जिससे सभी वस्तुएं बनी हुई हैं। वर्गसाँ एवं एलेक्जेन्डर काल को मूलभूत तत्त्व मानते हैं किन्तु दिक् के संबंध में उनके विचार भिन्न हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में काल को सतत-वर्तमान तत्त्व माना गया है। भूत एवं भविष्यत् का संबंध वर्तमान से है। न्याय-वैशेषिक मानते हैं कि किसी वस्तु का

---

१. बर्गसाँ, क्रियेटिव इवॉल्यूशन, पृ० ३६३

२. वही, पृ० २१३

३. एसेक्जेन्डर, स्पेस, टाइम एण्ड डीटी, पृ० २९

अस्तित्त्व ही काल पर निर्भर करता है। न्याय-वैशेषिक का विचार एलेक्जेन्डर से मिलता है, जब वे काल नित्य वस्तु मानते हैं और सभी वस्तुओं के जन्मदाता भी। एलेक्जेन्डर भी काल को (दिक् के साथ) को मूलभूत तत्त्व मानता है, जिससे सभी चीजों का विकास हुआ है।

नैयायिक का यह विचार तर्कसंगत नहीं है कि हमें सीमित काल, यथा "अब", "तब", वर्तमान आदि का साक्षात् ज्ञान नहीं होता है। यदि हमें काल में "नजदीक" या "दूर" का ज्ञान नहीं होगा तो हम काल का अनुमान नहीं कर सकते। सामान्य काल का अनुमान सीमित काल के साक्षात् ज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार मीमांसक एवं वेदान्तशास्त्री का विचार तर्कसंगत है कि काल का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

सांख्य-योग दर्शन के अनुसार काल को नित्य तत्त्व नहीं माना जाता है, जो क्षण से भिन्न हो। यह विचार बौद्ध दर्शन के विचार से मिलता जुलता है। किन्तु दोनों में अन्तर है। सांख्य-योग केवल काल को क्षण-भंगुर मानता है किन्तु वस्तुएं स्थायी हैं। किन्तु बौद्ध-दर्शन क्षण एवं सभी वस्तुओं को क्षणभंगुर मानता है, बिना पदार्थ के जो मात्र प्रत्यय है।

सांख्य-योग का विचार है कि दिक् एवं काल की अवधारणा मस्तिष्क से बाहर किसी सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। ये दोनों प्रत्यय हैं। किन्तु न्याय-वैशेषिक इन्हें नित्य पदार्थ मानते हैं। सांख्य-योग मानता है कि वे विचार जो शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, अनुभव का प्रतिनिधित्व नहीं करते अत: उन्हें सत्य या असत्य नहीं कह सकते। वैसे शब्द हैं, अनन्त, नित्य आदि। श्री घोष के शब्दों में –"कोई पद जो निषेधात्मक है, यथा–अनन्त, नित्य और इसी तरह के अन्य पद। इसी तरह के शब्द दिक् एवं काल हैं, कालिक अनुक्रम और जो तत्त्व अनुक्रमण करते हैं, वर्तना और जो पदार्थ बना रहता है को मानसिक तरीके से अलग कर दिया जाता है"–(ए स्टडी ऑफ योग)। सांख्य-योग का क्षण पर बल देना अरस्तू के काल-बोध के समान है। अरस्तू कहते हैं–"अब काल अस्तित्त्व में नहीं हो सकते और क्षण से अलग इनके अस्तित्त्व पर विचार ही नहीं किया जा सकता है और क्षण मध्य बिन्दु है

जो आदि और अन्त को जोड़ता है, भविष्यत् का आदि और भूत का अन्त, इससे निष्कर्ष निकलता है कि काल सदा रहेगा, क्योंकि अन्तिम कालावधि का छोर किसी क्षण में पाया जायगा, क्योंकि काल में क्षण के अतिरिक्त दूसरा सम्पर्क बिन्दु नहीं है।"[१]

सांख्य-योग के काल विचार में विज्ञानवादी झुकाव है किन्तु वस्तुवाद का परिचय दिक् विचार में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि दिक् बाह्य सत्ता है और काल का आधार देशिक अणु की गति में है। इस प्रकार सांख्य-योग के वस्तुवाद की तुलना हरबार्ट एवं लौट्जे के वस्तुवाद से की जा सकती है। किन्तु सांख्य-योग की प्रतिभासिक सत्ता उतनी प्रतिभासिक नहीं है, जितना कि हरबार्ट के अनुसार प्रतिभासिक अनुभव चीजों के वास्तविक पक्ष को चित्रित नहीं करता है।

मीमांसक प्रखर वस्तुवादी हैं। वे दिक् एवं काल के विषयगत अस्तित्त्व को न्याय-वैशेषिक की तरह मानते हैं।

मीमांसा के विभिन्न प्रस्थान दिक् एवं काल के संबंध में विभिन्न विचार रखते हैं। प्रभाकर, दिक् के प्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं मानता है। इसी प्रकार आकाश एवं काल के संबंध में भी प्रत्यक्ष ज्ञान का निषेध करता है। इन तीनों में रंग एवं आकार नहीं, अत: प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। इस प्रस्थान के विचार कान्ट के विचार से मिलते-जुलते हैं। कान्ट ने कहा है "काल की पूर्व कल्पना के आधार पर ही बहुत सी चीजों का साथ-साथ रहना या एक दूसरे के बाद आना निर्भर करता है।" दोनों ही मानते हैं कि सभी अनुभवों में काल वर्तमान रहता है। किन्तु मीमांसक काल के विषयगत अस्तित्त्व को मानता है, कान्ट ऐसा नहीं मानता। कान्ट के अनुसार काल आत्मानुभूति का आकार है। इसका ज्ञान अनुभव से प्राप्त नहीं होता, इसे हम प्रागानुभव से प्राप्त करते हैं। कान्ट के अनुसार काल अनुभवजन्य सत्ता है और यह सत्ता अन्य वस्तुओं के संबंध से जानी जाती है। कान्ट का विचार युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि काल को विशुद्ध आत्मानुभूति मानता है और साथ ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को अनुभवजन्य

---

१. फिजिक, २५१, १९-२८

काल की कसौटी मानता है। वस्तुतः शुद्ध आत्मानुभूति का कोई संबंध इन्द्रियजन्य ज्ञान से नहीं है।

मीमांसक दिक् एवं काल को नित्य मानते हैं। कुछ मीमांसक दिक् एवं काल को सृष्टि का आधार नहीं मानते, वरन् ईश्वर को ही सृष्टिकर्त्ता मानते हैं। यह विचार आधुनिक भौतिकशास्त्र के विचार से भिन्न है।[१]

अद्वैत वेदान्त एवं अन्य वेदान्त प्रस्थान दिक् एवं काल की उत्पत्ति पर विचार करते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार दिक् एवं काल सादि और सान्त है। काल विश्व की रचना में भाग नहीं लेता किन्तु आकाश सृष्टि कीरचना में सहायक है। आकाश भी अन्य वस्तुओं की तरह उत्पन्न पदार्थ है। अन्य वेदान्तिक प्रस्थान दिक् एवं काल को अनादि एवं अनन्त मानते हैं। वे इन तत्त्वों को नित्य भी मानते हैं। मध्व का अभिमत है कि दिक्, सृष्टि एवं प्रलय से अप्रभावित रहता है।

अद्वैत वेदान्त सृष्टि एवं प्रलय के क्रम को मानता है। इसी प्रकार दिक् एवं काल की उत्पत्ति एवं विनाश को भी मानता है। आधुनिक भौतिक शास्त्र ने काल एवं दिक् की उत्पत्ति के साथ एन्ट्रॉपी के सिद्धान्त को भी स्वीकारा है। बारनेट्ट ने विश्व के विनाश के संबंध में कहा है–"काल स्वयम् समाप्त हो जायगा क्योंकि एन्ट्रॉपी काल की दिशा निर्धारित करता है।"[२]

आधुनिक भौतिकशास्त्री दिक् की सीमितता की बात करता है किन्तु काल को अनन्त मानता है। दिक् की सीमितता इसकी उत्पत्ति की ओर संकेत करती है। एडिंगटन ने काल की सीमितता एवं अनन्तता की समीक्षा की है, किन्तु वह किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं।[३] यद्यपि उन्होंने कहा है कि काल अनन्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक भौतिकशास्त्री को प्रलय के समय काल की स्थिति के संबंध

---

१. आपदेव, मीमांसाप्रकाश–ईश्वरो गत-कल्पीयं वेदम् अस्मिन् कल्पे स्मृत्वोपर्दिशिति, पृ० २

२. बारनेट, दि यूनिवर्स एण्ड डा० आइन्सटीन, पृ० १११

३. एडिंगटन, दि नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड

में स्पष्ट ज्ञान नहीं है। एडिंगटन कहते हैं–"इसका अर्थ यह नहीं है कि काल का अन्त हो जायगा, यह अस्तित्त्व में रहता है। किन्तु इसमें गतिशीलता नहीं रहती है, उष्मागतिकीय साम्यावस्था अनिवार्य रूप से मृत्यु की अवस्था है।" इस प्रकार आधुनिक भौतिकशास्त्री भी काल के अन्त को मानते हैं।"

दिक् सृष्टि के क्रम में प्रमुख भूमिका निभाता है। बल्कि दिक् विश्व की रचना का आधार है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अकेले आकाश ही विश्व की रचना में भाग लेता है। श्रुति इस संबंध में चुप हैं कि काल सृष्टि की रचना में भाग लेता है। वेंकट मानते हैं कि काल सभी वस्तुओं का सामान्य कारण है। आधुनिक भौतिकशास्त्र इस विचार का समर्थन करता है। सुलिमान कहते हैं–"काल एवं दिक् दोनों ही पदार्थों के अस्तित्त्व के लिए आवश्यक है।"[१]

ऊपर की टिप्पणी से स्पष्ट है कि वस्तुओं का अस्तित्त्व देशिक एवं कालिक व्यवस्था में ही संभव है। दूसरे शब्दों में, वे देशिक एवं कालिक क्रम में सजे हुए हैं। अर्मूत दिक् की कल्पना की जा सकती है, किन्तु बिना दिक् के चीजों के बारे में नहीं सोचा जा सकता। इस प्रकार दिक् एवं काल सृष्टि की पूर्व शर्त है।

अद्वैत वेदान्त मानता है कि दिक् मात्र निष्क्रिय पात्र ही नहीं है, बल्कि श्रृष्टि के क्रम में सक्रिय एवं गतिशील भूमिका निभाता है। किन्तु काल के इस पक्ष पर अद्वैत वेदान्त चुप है।

विशिष्टाद्वैत मानता है कि काल भी सृष्टि की रचना में भाग लेता है। वेदान्त के विचार का समर्थन आधुनिक भौतिकशास्त्र भी करता है। १९वीं सदी के भौतिकशास्त्री दिक् या आकाश को वस्तुओं का निष्क्रिय पात्र मानते हैं।

आइन्सटीन का कहना है–"भौतिकशास्त्रियों ने हाल तक माना है कि दिक् वस्तुओं का निष्क्रिय पात्र है और घटनाओं में कोई भाग नहीं लेता है"।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आकाश आयतन में सीमित है। विशिष्टाद्वैत

१. सूलिमान, दि लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स, पृ॰ ६६

मानता है कि आकाश अनन्त प्रतीत होता है किन्तु मायिक ईश्वर के प्रसंग में सीमित है। आधुनिक विज्ञान इस मत का समर्थन करता है।

सुलिमॉन ने कहा है–"हमारी विचारधारा में कोपरनिकस के युग से परिवर्तन आया है कि विश्व को सीमित माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आकाश में सीमित मात्रा में पदार्थ है बल्कि आकाश को ही सीमित माना जाता है"।[१]

आइन्सटीन के अनुसार दिक् तथा इसमें स्थित विश्व सीमित है। इस सिद्धान्त में विश्वास करने के लिए वह दो कारण बताते हैं। उनका पहला तर्क सभी को मान्य नहीं है और वे मैक (Mach) के विचार से प्रभावित हुए हैं। मैक के अनुसार एक पदार्थ की निष्क्रियता बढ़ जाती है, जब विश्व के दूसरे पदार्थ निकट लाये जाते हैं। यह केवल सीमित विश्व में संभव है, ऐसा विचार आइन्सटीन का है।[२]

दूसरा तर्क वैज्ञानिकों को अधिक तर्कसंगत लगता है। यदि खगोलीय पदार्थों पर आकर्षण शक्ति का प्रभाव पड़े तो तारों के समूह का मध्य वेग, जैसा कि पाया गया है, वास्तविक वेग से कहीं अधिक होता है। इससे प्रमाणित होता है कि सर्व व्याप्त शक्ति का क्षेत्र है, जो आकर्षण शक्ति के प्रभाव को घटा देता है। यह सीमित एवं गतिहीन विश्व का गुण है कि उसमें इस प्रकार का क्षेत्र रहेगा। अत: आइन्सटीन मानते हैं कि दिक् सीमित है किन्तु यह घिरा हुआ नहीं है।

अब हमें दिक् के सीमित एवं सीमाहीन पक्ष पर विचार करना है। दिक् में ये दोनों ही गुण हैं, यथा वृत्त में भी ये गुण हैं क्योंकि वृत्त की लम्बाई सीमित है किन्तु इसका आदि और अन्त नहीं है या यह घिरा हुआ नहीं है। आइन्सटीन दिक् में वक्रता को मानते हैं। एडिंगटन भी इस वक्रता को मानते हैं।[३]

आइन्सटीन न्यूटन के दिक् एवं काल के सिद्धान्त को नहीं मानते

---

१. सुलिमॉन, दि लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स, पृ० २२

२. आइन्सटीन, दि वर्ल्ड एज आई सी इट

३. एडिंगटन, न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० २१७

हैं। आइन्सटीन का कहना है–"...दिक्, जिसकी कल्पना रीमैन ने की है, अब निरपेक्ष नहीं है"। दिक् एवं काल की सापेक्षता पर टिप्पणी करते हुए ह्वेथम ने कहा है कि–"दिक् एवं काल पर्यवेक्षक के सापेक्ष हैं, और कोई एक अंतरिक्षीय दिक् एवं काल नहीं है।" सुलिमान के अनुसार"–दिक् या काल की निरपेक्षता जैसी चीज अब नहीं है....भिन्न पर्यवेक्षक दिक् एवं काल, जो दो घटनाओं को अलग करता है, का भिन्न माप करते हैं"।

मिन्कॉस्की के अनुसार "दिक् एवं काल अलग-अलग छाया की तरह लुप्त हो गये, और केवल दोनों के सम्मिलित रूप का ही अस्तित्व रह गया है।" प्रातिभासिक घटनाएं दिक् काल सातत्यक में घटती हैं। प्रकृति स्वयं चतुर्आयामी दिक्-काल सातत्यक से संबंधित है। सर जीन्स टिप्पणी करते हैं–"प्रकृति चर्तुआयामी दिक्-काल को तोड़कर निरपेक्ष दिक् एवं निरपक्ष काल में बांटने में अस्वीकार करती है"।[१]

हम लोगों ने देखा है कि वेदान्तवादी बौद्ध दर्शन के शून्यतावाद का खंडन करते हैं। वेदान्तवादी दिक् एवं काल को भावात्मक सत्ता मानते हैं। दिक् या आकाश में पदार्थ बिखरे पड़े रहते हैं, अत: 'शून्यता' कल्पना मात्र है। जीन्स एवं एडिंगटन काल को परिवर्तन मानते हैं। एडिंगटन ने टिप्पणी की है–"काल के लिए चिन्ह-स्तम्भ भौतिक जगत् में ही पाते हैं।"[२]

अद्वैत वेदान्त में काल प्रत्यय है। जीन्स इसे "प्रत्यक्षात्मक काल" कहते हैं। भगवानदास कहते हैं कि काल की धीमी एवं तीव्र गति मानसिक है, काल की छोटी एवं बड़ी अवधि भी मानसिक है।[३] प्रो॰ प्लांक ने सुलीमान से साक्षात्कार के क्रम में कहा है–"मनुष्य को सीखना चाहिए कि दिक् एवं काल विषयगत सत्ता नहीं है।...वे चेतना से स्वतंत्र विषयगत सत्ता हैं और शायद इस प्रकार की कोई सत्ता नहीं है।[४] वेदान्त में दिक्, काल एवं कारण को एक सांतत्यक माना गया है। स्वामी

---

१. सर जेम्स जीन्स, दि मिस्वीरियस यूनिवर्स, पृ॰ १२७

२. एडिंगट, न्यू पाथवेज इन साइन्स

३. भगवान दास, साइन्स ऑफ पीस, २२७

४. दि ऑवजर्वर, जनवरी २५, १९३४

विवेकानन्द कहते हैं–"सबसे पहले शंकर ने इस तथ्य को समझा कि दिक्, काल एवं कारण माया के साथ संबंधित है।"[१] मध्वतीर्थ का कहना है–"दिक् एवं काल दोनों ही आधुनिक भौतिकशास्त्र एवं दर्शन के लिए 'माया' है।" दिक्, काल और कारण अद्वैत वेदान्त की "माया" को चित्रित करते हैं।

वेदान्त का दिक् एवं काल की अवधारणा की तुलना प्रो॰ एलेक्जेन्डर की अवधारणा से की जा सकती है कि विश्व की उत्पत्ति दिक्-काल की एकता से हुई है। किन्तु वेदान्त के लिए ब्रह्म ही सबसे ऊँची सत्ता है। वे ही विश्व के आदि एवं अन्त हैं। प्रो॰ एलेक्जेन्डर के अनुसार ईश्वर विश्व का अन्त है किन्तु आदि नहीं है। वेदान्त के लिए ब्रह्म ही चरम सत्ता है और वे दिक् एवं काल को भी अपने में समाहित कर लेते हैं।

१. स्वामी विवेकानन्द, दि कम्प्लीट वर्क्स, भाग-२, पृ॰ ३४२

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अध्याय-१

१. अहिरबुध्न्य संहिता, अद्यार पुस्तकालय, १९१६

२. अथर्ववेदसंहिता, आर्य साहित्य मंदिर।

३. अथर्ववेद, आर. रॉथ. और डब्लू.डी.टिवटनी (सम्पा.), बर्लिन, १८५६

४. अथर्ववेद, डब्लू.डी.ह्विटनी (अनु.) केम्ब्रिज, १९०५

५. ऐतरेयब्राह्मण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, १८९६

६. ऐतरेयब्राह्मण, (अनुवाद) ए.बी.कीथ, केम्ब्रिज, १९२०

७. जैमिनी उपनिषद्-ब्राह्मण, संपादक भगवद्दत्त

८. काश्मीरी अथर्ववेद, ब्लूमफील्ड और आर. गार्वे (संपादक)

९. कौशीतकिब्राह्मण, ई.बी. कॉवेल (संपादक) कलकत्ता, १८६१

१०. कौषीतकिब्राह्मण, ए.बी.कीथ (अनुवादक), १९२०

११. पंचविंशब्राह्मण, (संपादक) ए. वेदान्तवागीस, कलकत्ता

१२. ऋग्वेद संहिता-४ भाग-वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३

१३. ऋग्वेद, अनुवाद ग्रासमन्न-लीपजीग, १८७६-७७

१४. ऋग्वेद, आर.टी.एच.ग्रिफिथ, बनारस, १८९६-९७

१५. ऋग्वेद, अनुवाद-एच.ओल्डेनवर्ग-ऑसफोर्ड, १८९७

१६. शतपथब्राह्मण-५ भाग, अनुवाद-जे.इग्लेलिंग-१८८२-९००

१७. षडविंशब्राह्मण-संपादक-जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता-१८८१

१८. सामवेद, सं. और अनुवाद-बेनफ-लीपजीग-१८४८

१९. यजुर्वेदसंहिता, ओरिएन्टलबुक एजेन्सी, पूना

अनुवाद एवं मानक ग्रन्थ

१. एनसिएन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन, एफ.ई.पार्जीटर, लन्दन, १९२२
२. दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज, बी.जी.तिलक-१९५६
३. दि वेदिक ऐज, संपादक-आर.सी.मजूमदार, १९५२
४. दि फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स, ए.बी. कीथ, १९२५
५. दि रिलीजियन ऑफ दि वेद, ब्लूमफील्ड, न्यूयॉर्क-१९०८
६. वैदिक संस्कृति और साहित्य, प. बलदेव उपाध्याय-सच्चिद् ग्रंथमाला-१९४७
७. वैदिक इन्डेक्स, ए.ए. मैकडोनेल और ए.बी.कीथ, दो भाग, लन्दन, १९१२
८. वैदिक इन्डेक्स, फतह ना. सिंह।
९. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, ए.ए. मैक्डोनेल-१९१३

अध्याय-२

१. एेतरेय आरण्यक-आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-१९९८; २. बृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस-२००७-९; ३. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, २००७-९; ४. ईश उपनिषद्, गीता प्रेस,; ५. जाबाल उपनिषद् गीता प्रेस,; ६. केन उपनिषद् संपादक-राधाकृष्णन्, गीता प्रेस,; ७. कठोपनिषद्, गीता प्रेस,; ८. कौषीतकि उपनिषद्, गीता प्रेस,; ९. कैवल्य उपनिषद् गीता प्रेस,; १०. मैत्री उपनिषद्, गीता प्रेस,; ११. माण्डूक्य उपनिषद्, गीता प्रेस,; १२. मुण्डक उपनिषद्, गीता प्रेस,; १३. पैंगल उपनिषद्, गीता प्रेस,; १४. प्रश्न उपनिषद्, गीता प्रेस,; १५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, गीता प्रेस,; १६. सुबाल उपनिषद्, गीता प्रेस,; १७. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस,; १८. तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम प्रकाशन, १८९८

अध्याय-३ : अनुवाद एवं मानक ग्रंथ

१. कन्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, आर.डी.रानाडे, १९२६; २. अर्ली ग्रीक फिलॉसफी, जे बर्नेर।; ३. हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, जे.बी.ब्यरी, १९०६; ४. फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स-अनुवादक, ए.एस. जेडेन, १९१९; ५. थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, आर.ई. ह्यूम, १९२१; ७. दि फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स, ए.बी.कीथ, १९२५; ८. टाइम एण्ड एर्टनीटी-ए.के. कुमारस्वामी स्वीजरलैंड।

१. अग्निपुराण, आनन्दाश्रम, पूना, १९००; २. अग्निपुराण, अंग्रेजी अनुवाद, एम.एन. दत्त, कलकत्ता, १९०१; ३. भविष्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस-बम्बई, १९१०; ४. भागवतपुराण-गीता प्रेस-सम्वत् २००८; ५. भगवद्गीता, गीताप्रेस सम्वत् २००७; ६. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-गुरुमंडल (कलकत्ता), १९५६; ७. ब्रह्मांडपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५; ८. गरुड़ पुराण (अंग्रेजी अनुवाद) एम.एम. दत्त, कलकत्ता, १९०८; ९. गरुड़ पुराण, बम्बई संस्करण, १९०६; १०. हरिवंशपुराण, गीताप्रेस, सम्वत् २००८; ११. कूर्मपुराण, सम्पादक एन मुखोपाध्याय, कलकत्ता।; १२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद शामाशास्त्री, १९५७; १३. कामसूत्र, वात्स्यायन दमोदरलाल गोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज; १४. लिंगपुराण सं. जे. विद्यासागर, कलकत्ता १८८५; १५. मत्स्यपुराण, गुरुमंडल, १९५७; १६. मत्स्यपुराण, अंग्रेजी अनुवाद-तालुकदार ऑफ अवध सैक्रेड बुक्स, इलाहाबाद; १७. महाभारत, बी.ओ.आर.आई, १९५७-५९; १८. महाभारत बम्बई संस्करण, १९२९-३३; १९. मारकराण्डेय पुराण, अंग्रेजी अनुवाद एफ.ई.पार्जीटर, १९००; २०. मनुस्मृति, सं. और अनुवाद-पंडित हरगोविन्द शास्त्री, १९५२; २१. पद्मपुराण वी.एन.मंडल्लिक।; २२. रामायण-आनन्दाश्रम भाग ४ १८९३; २३. स्कन्दपुराण-पंचानन १८८५; २४. स्मृतिसंदर्भ भाग ९,३ गुरु मंडल कलकत्ता, १९५२; २५. वराहपुराण सं. एच. शास्त्री, कलकत्ता १८९३; २६. वायुपुराण सं. आर.एल. मित्र, कलकत्ता; २७. वायुपुराण-आनन्दाश्रम १९०५; २८. विष्णुपुराण, गीता प्रेस सम्वत् २००८; २९. विष्णुस्मृति गुरूमंडल-कलकत्ता, १९५२; ३०. विष्णुस्मृति सं.जी.

१९. यजुर्वेदसंहिता, ओरिएन्टलबुक एजेन्सी, पूना

अनुवाद एवं मानक ग्रन्थ

१. एनसिएन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन, एफ.ई.पार्जीटर, लन्दन, १९२२
२. दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज, बी.जी.तिलक-१९५६
३. दि वेदिक ऐज, संपादक-आर.सी.मजूमदार, १९५२
४. दि फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स, ए.बी. कीथ, १९२५
५. दि रिलीजियन ऑफ दि वेद, ब्लूमफील्ड, न्यूयॉर्क-१९०८
६. वैदिक संस्कृति और साहित्य, प. बलदेव उपाध्याय-सच्चिद् ग्रंथमाला-१९४७
७. वैदिक इन्डेक्स, ए.ए. मैकडोनेल और ए.बी.कीथ, दो भाग, लन्दन, १९१२
८. वैदिक इन्डेक्स, फतह ना. सिंह।
९. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, ए.ए. मैक्डोनेल-१९१३

अध्याय-२

१. एेतरेय आरण्यक-आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-१९९८; २. बृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस-२००७-९; ३. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, २००७-९; ४. ईश उपनिषद्, गीता प्रेस,; ५. जाबाल उपनिषद् गीता प्रेस,; ६. केन उपनिषद् संपादक-राधाकृष्णन्, गीता प्रेस,; ७. कठोपनिषद्, गीता प्रेस,; ८. कौषीतकि उपनिषद्, गीता प्रेस,; ९. कैवल्य उपनिषद् गीता प्रेस,; १०. मैत्री उपनिषद्, गीता प्रेस,; ११. माण्डूक्य उपनिषद्, गीता प्रेस,; १२. मुण्डक उपनिषद्, गीता प्रेस,; १३. पैंगल उपनिषद्, गीता प्रेस,; १४. प्रश्न उपनिषद्, गीता प्रेस,; १५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, गीता प्रेस,; १६. सुबाल उपनिषद्, गीता प्रेस,; १७. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस,; १८. तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम प्रकाशन, १८९८

अध्याय-३ : अनुवाद एवं मानक ग्रंथ

१. कन्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, आर.डी.रानाडे, १९२६; २. अर्ली ग्रीक फिलॉसफी, जे बर्नेर।; ३. हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, जे.बी.ब्यरी, १९०६; ४. फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स-अनुवादक, ए.एस. जेडेन, १९१९; ५. थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, आर.ई. ह्यूम, १९२१; ७. दि फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स, ए.बी.कीथ, १९२५; ८. टाइम एण्ड एर्टनीटी-ए.के. कुमारस्वामी स्वीजरलैंड।

१. अग्निपुराण, आनन्दाश्रम, पूना, १९००; २. अग्निपुराण, अंग्रेजी अनुवाद, एम.एन. दत्त, कलकत्ता, १९०१; ३. भविष्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस-बम्बई, १९१०; ४. भागवतपुराण-गीता प्रेस-सम्वत् २००८; ५. भगवद्गीता, गीताप्रेस सम्वत् २००७; ६. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-गुरुमंडल (कलकत्ता), १९५६; ७. ब्रह्मांडपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५; ८. गरुड़ पुराण (अंग्रेजी अनुवाद) एम.एम. दत्त, कलकत्ता, १९०८; ९. गरुड़ पुराण, बम्बई संस्करण, १९०६; १०. हरिवंशपुराण, गीताप्रेस, सम्वत् २००८; ११. कूर्मपुराण, सम्पादक एन मुखोपाध्याय, कलकत्ता।; १२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद शामाशास्त्री, १९५७; १३. कामसूत्र, वात्स्यायन दमोदरलाल गोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज; १४. लिंगपुराण सं. जे. विद्यासागर, कलकत्ता १८८५; १५. मत्स्यपुराण, गुरुमंडल, १९५७; १६. मत्स्यपुराण, अंग्रेजी अनुवाद-तालुकदार ऑफ अवध सैक्रेड बुक्स, इलाहाबाद; १७. महाभारत, बी.ओ.आर.आई, १९५७-५९; १८. महाभारत बम्बई संस्करण, १९२९-३३; १९. मारकराण्डेय पुराण, अंग्रेजी अनुवाद एफ.ई.पार्जीटर, १९००; २०. मनुस्मृति, सं. और अनुवाद-पंडित हरगोविन्द शास्त्री, १९५२; २१. पद्मपुराण वी.एन.मंडल्लिक।; २२. रामायण-आनन्दाश्रम भाग ४ १८९३; २३. स्कन्दपुराण-पंचानन १८८५; २४. स्मृतिसंदर्भ भाग ९,३ गुरु मंडल कलकत्ता, १९५२; २५. वराहपुराण सं. एच. शास्त्री, कलकत्ता १८९३; २६. वायुपुराण सं. आर.एल. मित्र, कलकत्ता; २७. वायुपुराण-आनन्दाश्रम १९०५; २८. विष्णुपुराण, गीता प्रेस सम्वत् २००८; २९. विष्णुस्मृति गुरूमंडल-कलकत्ता, १९५२; ३०. विष्णुस्मृति सं.जी.

गॉल १८८१; ३१. योगवासिष्ठ, बम्बई संस्करण १९१८; ३२. योगवासिष्ठ, हिन्दी अनुवाद अच्युत ग्रंथमाला, काशी, १९५५

मानक ग्रन्थ

१. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी-भाग-२ डॉ० एस. एन. दासगुप्त।; २. दसपुराण पंचलक्षण-डब्लू कीरफेल-बॉन-१९२७; ३. एपिक माइथॉलॉजी, इ.डब्लू.हॉपकिन्स, बास्टन; ४. एनसाश्ल्कोपीडिया ऑफ रिलीजियन्स, एम.ए. कैनी, १९२१; ५. फर्स्ट प्रिंस्पिुल्स, एच. स्पेन्सर, १८८७; ६. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, विन्टरनीज; ७. मत्स्यपुराण : ए. स्टडी., बी.आर.आर. दिक्षितर-मद्रास विश्वविद्यालय, १९३५; ८. ऑन दि मीनिंग ऑफ महाभारत, आर दिक्षितर, १९५८; ९. फिलॉसफीज ऑफ इन्डिया, एच. जिम्मर, लंदन १९५३; १०. सेक्रेट डॉक्टरीन, एम. ब्लावेट्सकी, १९५१; ११. स्टडीज इन विष्णुपुराण, विल्सन १९१३; १२. स्टडीज इन उपपुराणाज, आर. सी. हाजरा, १९५८; १३. दि ग्रेट एपिक ऑफ इन्डिया, ई. डब्लू. हॉपकिन्स-वोस्टन; १४. दि पौराणिक इन्डेक्स दिक्षितार मद्रास १९५१-५२; १५. दिपुराण के.एन. ऐचर १९१६; १६. दि हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसफी-डॉ० बी. बरुआ, १९२१; १७. दि रिलिजियन्स ऑफ इन्डिया, इ. डब्लू हॉपकिन्स, १८९५; १८. दि रिड्ल ऑफ रामायण, सी.वी. वैद्य-लंदन-१९०६; १९. योगवासिष्ठ एण्ड मार्डन थॉट-डॉ० बी. एल. अत्रेय।

अध्याय-4 भाग-क

१. अभिधर्मकोश, सं. राहु; सांकृत्यायन, १९५७; २. गौड़पाद का आगमशास्त्र, अंग्रेजी-संपादक एवं अनुवादक-विदुशेखर भट्टाचार्य, १९४३; ३. ब्रह्मसूत्र, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय; ४. दि चतु:शतक ऑफ आर्यदेव, सं. विदुशेखर भट्टाचार्य १९३१; ५. कथावत्थु, अंग्रेजी अनुवाद स्वी जान ऑन्ग और मिसेज राइस डेभिड्स।; ६. लंकावतार सूत्राज, अंग्रेजी अनुवाद डी.टी. सुजुकी १९३०; ७. माध्यमिककारिका ऑफ नागार्जुन, टूस्सी; ८. माध्यमिकवृत्ति ऑफ चन्द्र कीर्ति कलकत्ता संस्कारण १८९४; ९. मिज्झिम निकाय-अनुवाद-मिसेज राइस डेभिड्स।; १०. मिलिन्द पैंयां-सं. ट्रेकनर,

१९२८; ११. संयुक्त निकाय-अनुवादक-आई.बी.हॉर्नर, १९५४; १२. स्फुटार्था ऑफ यशोमित्र-संपादक-एन.एन.लॉव, १९४०; १३. तत्त्वसंग्रह ऑफ शान्तरक्षित, अंग्रेजी अनुवाद गंगानाथ झा-गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज।; १४. तत्त्वसंग्रह पंजिका ऑफ कमलशील-अंग्रेजी अनुवाद गंगानाथ झा, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज।; १५. दिघनिकाय, अनुवादक प्रो. डब्लू टी. राइसडेविड्स एवं प्रो० कारपेन्टर, १९५४

मानक-ग्रंथ

१. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी-भाग-१, डॉ० एस.एन. दासगुप्त-१९५२; २. अश्वघोष, बी.सी.लॉ. १९४६; ३. आस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान-एन.दत्त १९३०; ४. ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑफ टर्म्स हीनयान एण्ड महायान एण्ड ऑरिजिन ऑफ महायान बुद्धिज्म आर.किमुरा.कलकत्ता १९२७; ५. बुद्धिस्ट फिलॉसफी ए.बी. कीथ १९२३; ६. बौद्ध धर्म दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव, १९५६; ७. बुद्धिस्ट लॉजिक-चेरवास्की, १९३२; ८. बुद्धघोष बी.सी.लॉ १९४६; ९. बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन-हरवार्ड आरियेन्टर सीरिज-वारेन, १९४७; १०. बुद्धिज्म, एडवर्ड कॉन्जे, १९५२; ११. एशेनसियल्स ऑफ बुद्धिस्ट फिलॉसफी-ताकाकुसु, १९४७; १२. अर्ली मानैस्टिक बुद्धिज्म-भाग १,२ एन. दत्त, १९४१ और १९४५; १३. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी लिट्रेचर-भाग-२ विंटरनिज, १९३१; १४. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी -डॉ० उमेश मिश्र।; १५. हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म (अनुवाद-ओबर मिलर-वटसन-१९३१-३२; १६. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, डॉ० राधाकृष्णन्; १७. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लॉजिक सतीशचन्द्र विद्याभूषण १९२०; १८. स्टडीज इनदि ऑरिजिन ऑफ बुद्धिज्म जी.सी. पाण्डेय-१९५७; १९. सिस्टेम्स ऑफ बुद्धिस्ट थॉर-यामाकामी सोजेन, १९१२; २०. दि सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म-टी. आर.वी. मूर्ति, १९५५; २१. दि सेन्ट्रल कॉनसेप्सन ऑफ बुद्धिज्म एण्ड मीनिंग ऑफ दि वर्ड "धर्म"-चेरवास्की; २२. दि फिलॉसफी ऑफ यूनिवर्सल फलक्स, डॉ० एस मुकर्जी-१९३५; २३. वैभाषिक दर्शन-बंगला-अनन्त कुमार भट्टाचार्य;

भाग-ख

१. द्रव्यसंग्रह ऑफ नेमिचन्द्र, अंग्रेजी अनुवाद-घोषाल, आरा-१९२७; २. न्यायावतार ऑफ सिद्धसेन दिवाकर, संपादक और अनुवाद-एस.सी. विद्याभूषण-इन्डियन रिसर्च सोसाइटी-कलकत्ता, १९०९; ३. पचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति के साथ) संपादक एवं अनुवादक-मनोहर लाल।; ४. प्रवचनसार अनुवादक बी.फेड्योर-केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।; ५. तत्त्वार्धाधिगम सूत्र ऑफ उमास्वाति-अंग्रेजी-अनुवादक, जे.एल.जैनी आरा, १९२०; ६. सर्वार्थसिद्धि ऑफ आचार्य-पूज्यपाद, हिन्दी अनुवाद-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८; ७. षड्दर्शन समुच्चय-हरिभद्र जैन-आनन्द ग्रंथमाला-भवनगर, १९१७; ८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ऑफ अकलंक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-१९५८

अध्याय-५

१. भाषापरिच्छेद ऑफ विश्वनाथ-अंग्रेजी अनुवाद-स्वामी मध्वानन्द-अद्वैत आश्रम १९४०; २. चित्सुखि (तत्त्वप्रदीपिका) ऑफ चित्सुखाचार्य-उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी।; ३. खण्डन खाद्य ऑफ श्रीहर्ष-हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणी सहित-काशी संस्कृत सीरीज।; ४. किरणावली ऑफ उदयन, बनारस संस्कृत सीरीज।; ५. किरणावली भाष्कार ऑफ पद्मनाभ मिश्र-सरस्वती भवन टेक्स्ट।; ६. न्यायभाष्य ऑफ वात्स्यायन भी.एस.एस.; ७. न्यायकन्दली ऑफ श्रीधार वी.एस.एस. नं. ६-१८९५; ८. न्यायकुसुमांजलि ऑफ उदयन-बी.आइ.कलकत्ता।; ९. न्याय लीलावती ऑफ वल्लभ-चौ.सं.सी, १९३४; १०. न्यायमंजरी ऑफ जयन्त भट्ट, चौ.स.सी, १८९५; ११. न्याय-सूत्र ऑफ गौतम-बी. आई-कलकत्ता।; १२. न्यायसूत्र वृत्ति ऑफ विश्वनाथ; १३. न्याय वार्तिक ऑफ उद्योतकर च.स.सी, १८९८; १४. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका ऑफ वाचस्पति मिश्र वि.स.स. बनारस, १८९८; १५. दि भाष्य ऑफ प्रशस्तपाद वि.सं-१८९५; १६. पदार्थ तत्त्व निरूपण ऑफ रघुनाथ शिरोमणि बनारस, १९१६; १७. सर्व दर्शन संग्रह ऑफ माधव-कलकत्ता, १८८९; १८. सिद्धान्त चन्द्रोद्रय ऑफ श्रीकृष्ण धुर्जटि, बनारस, (अंग्रेजी अनुवाद

सहित)"८ १८८१; १९. सिद्धन्त मुक्तावली ऑफ विश्वनाथ-अंग्रेजी-अद्वैत आश्रम-कलकत्ता, १९४०; २०. सप्तपदार्थी ऑफ सिवादित्य-स.बी.एस. घाटे बम्बई; २१. तर्क संग्रह ऑफ अन्नम भट्ट-सं.एवं अनुवादक-पंडित ज्वाला प्रसाद-मोतीलाल बनारसीदास, १९५५

अध्याय-६

१. पातंजलयोग सूत्र-भाष्य-विवरणम्; मद्रास सरकार ओरिएन्टल सीरीज; २. सांख्यसूत्र (अनिरुद्ध के भाष्य के साथ); -के० वदान्तवागीश भाग-२, कलकत्ता, १९३५; ३. सांख्य-सूत्राज-अंग्रेजी अनुवाद-आर. गार्व -१८९१-९२ बी. आई. एस.; ४. सांख्य-कारिका ऑफ ईश्वर कृष्ण; बी. एण्ड ओ. आर, १९२२; ५. सांख्य तत्त्व कौमुदी (वाचस्पति); सीताराम शास्त्री-बनारस, १९३५; ६. सांख्य प्रवचन भाष्य विज्ञानभिवक्त काशी संस्कृत सीरीज; ७. तत्त्व वैशारदी ऑफ वाचस्पति-अंग्रेजी; अनुवाद-रामप्रसाद-सेक्रेड बुक्स ऑफ हिन्दूज-इलाहाबाद; ८. अनुवाद रामप्रसाद सेकरेड बुक्स जे.एच. बुह्स-केम्ब्रिज।; ९. योग वार्तिक-विज्ञानभिक्षु-सांख्य योग; दर्शनम्-बनारस।; १०. युक्तिदीपिका-सी. चक्रवर्ती कलकत्ता; संस्कृत सीरीज।; ११. वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजुषा-नागेश भट्ट् च.स.स,

मानक ग्रंथ

१. ए स्टडी ऑफ पतंजलि-एस.एन.दास गुप्त १९२०; २. ए स्टडी ऑफ योग जे. घोष १९३३; ३. अर्ली सांख्य ई. एच. जॉन्सटन; ४. ऑरिजिन एण्ड डेभलपमेंट ऑफ दी सांख्य सिस्टेम ऑफ थॉट पी. चक्रवर्ती कलकत्ता संस्कृत सीरीज-ए; ५. आउट लाइन्स ऑफ एफिलॉसफी ऑफ रिलिजियन-एच लॉट्जे-न्यूर्यार्क-१८९२; ६. पातंजल योग दर्शन (हिन्दी) श्रीमद् हरिहरानन्द आरराय-लखनऊ विश्वविद्यालय; ७. सांख्य सिस्टेम ए.बी. कीथ, १९२४; ८. सांख्य दर्शन का इतिहास-पंडित उदयवीर शास्त्री १९५०; ९. दि पोजिटिभ साइन्सेज ऑफ एन्सीएनट हिन्दुज-सर. बी.एन.सील-मोतीलाल बनारसी दास, १९५८; १०. योग फिलॉसफी-एस.

एन. दासगुप्त; ११. योग एज फिलॉसफी एण्ड रिलीजियन; एस.एन. दासगुप्त

अध्याय-७

१. जैमिनीसूत्राज, प्रो० थडानी-भारती रिसर्च इन्सटिट्यूट १९५२; २. मानमेयदय, नारायण-सी.कुन्दन; राजा-थियोसॉफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास, १९३३; ३. प्रकरण पंत्रिका शल्लीकनाथ मिश्र-बनारस, १९०३; ४. शास्त्रदीपिका पार्थसारथि मिश्र-निर्णय सागर प्रेस-बम्बई, १९५१; ५. श्लोकवार्तिक कुमारिल भट्ट, अंग्रेजी अनुवाद गंगानाथ झा १९००; ६. तन्त्रवार्तिक कुमारिल भट्ट, बनारस संस्कृत सीरीज, १८९०; ७. तन्त्रवार्तिक गंगानाथ झा बी.ई. १९०३

मानक ग्रंथ

१. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी भाग-१ जे.एन.सिंह, १९५२; २. हिस्ट्री ऑफ फिलासफी-ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न; ३. कर्म मीमांसा-ए.बी. कीथ-हेरिटेज ऑफ इन्डिया सीरीज।; ४. मीमांसा-प्रो० एन०मी० थडानी।; ५. प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा-इन्डियन थॉट-इलाहाबाद, १९११; ६. पूर्व मीमांसा-पशुपति नाथ शास्त्री-कलकत्ता-१९२३; ७. पूर्वमीमांसा एक इट्स सोर्सेज-बनारस हिन्दु यूनिर्वसिटी-गंगा नाथ झा।

अध्याय-८

१. अणुभाष्यम्, वल्लभ-बी.आई. न्यू सीरीज कलकत्ता, १८९१; २. ब्रह्मसूत्र-आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, १८९०; ३. ब्रह्मसूत्र-अंग्रेजी अनुवाद-डॉ० एस. राधाकृष्णन-१९६०; ४. ब्रह्मसूत्र भाष्य-शंकराचार्य, नारायण शास्त्री-ए. एस.एस.-पूना- १९००-१९०३; ५. ब्रह्मसूत्र भाष्य-शंकराचार्य नारायण शास्त्री-जी थीबॉ-एस.बी.ई. ऑक्सफोर्ड, १८९०; ६. भागवत तात्त्पर्य मध्व सी.एस.एस.; ७. चित्सुखी, हिन्दी अनुवाद-उदासीन संस्कृत विद्यालय काशी।; ८. माण्डूक्यकारिका गौड़पाद, अंग्रेजी अनुवाद-रामकृष्ण आश्रम-मैसूर १९४९; ९. न्यायसुधा-जयतीर्थ बनारस, १९०१; १०. प्रस्थान रत्नाकर पुरुषोत्तम जी महाराज सी.एस.एस, १९०९; ११. श्रीभाष्य-रामानुज-ब्रह्वादी

प्रेस, मद्रास, १८९९; १२. श्रीभाष्य रामानुज जार्ज थीबॉ, एस.बी.ई-१८८५; १३. तत्त्वमुक्तालाप-वेंकटनाथ-यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, १९३३; १४. तत्त्वत्रय-लोकाचार्य, सी.एस.एस.; १५. दि कम्पलीट वर्क्स, स्वामी विवेकानन्द; १६. उपनिषद् शांकर भाष्य के साथ, गीता प्रेस

मानक ग्रंथ

१. अद्वैत फिलॉसफी, कोकिलेश्वर शास्त्री, १९२६; २. अद्वैत वेदान्त एण्ड मोर्डन फिजिक्स, श्रीमत पुराग्र परमपंथी; ३. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी -डॉ० एस.एन. दासगुप्त, १९५२; ४. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसफी -डॉ० जे.एन. सिन्हा।; ५. ए स्टडी ऑफ वेदान्त-प्रो० एस.के. दास।; ६. इन्डियन थेइज्म एन. मैम्निकॉल-ऑक्सफोर्ड, १९१५; ७. आउटलाइन ऑफ दी वेदान्त सिस्टेम ऑफ फिलॉसफी एकार्डिंग टू शकर पी.डयूसेन-कैब्रिज, १९५१; ८. स्टडीज इन वेदान्त वी.जे.कीर्तिकर डी.बी. तारपारवाला एण्ड सन्स-बम्बई, १९२४; ९. दि फिलॉसफी ऑफ भेदाभेद - पी. एन. श्रीनिवासचारी; १०. दि वेदान्त वी.एस.घाटे-पूना, १९२६; ११. वाचस्पति मिश्र ऑन अद्वैत वेदान्त डॉ० एस.एस. हसुरकर।

अन्य मानक ग्रंथ

१. ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी-विन्डेल वैन्ड-न्यू यार्क; २. ए हिस्ट्री साइन्स-द्रेशम-केम्ब्रिज यूनिर्वसिटी-प्रेस-१९२९; ३. ए प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स-विलियम जेम्स।; ४. क्रियेटिव इवॉल्यूशन-वर्गसाँन, १९०७; ५. क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रिज्न-अनुवाद-मैम्समूलर-कान्ट, १८८१; ६. अर्ली जोरिस्टनिज्म-मौल्टन-लंदन, १९१३; ७. एसेज इन साइन्स-अलबर्ट आइन्सटीन, ए मेन्टमोर बुक-१९५८; ८. इन्ट्रोडक्शन टु मेटाफिजिक्स-वर्ग सॉ-१९०३; ९. मैटर एण्ड मोशन-जेम्स क्लार्क मैक्सवेल; १०. माया-स्वामी मध्वतीर्थ; ११. न्यू पाथवेज इन साइन्स ए.एस. एडिंगटन, १९३५; १२. न्यू बैक ग्राउन्ड ऑफ साइन्स-सर जेम्स जीन्स; १३. आउटलाइन्स ऑफ ग्रीक फिलॉसफी इ. जेल्लर, १९३१; १४. फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी-सर जेम्स जीन्स, १९४८; १५. साइन्स एण्ड मोडर्न वर्ल्ड एच.ए.रीज्न।; १६. साइन्स एण्ड मोडर्न वर्ल्ड ए.एन.ह्वाईहेड; ए. मेन्टमोर बुक-१९४८·

नामपदानुक्रमणी

अणुभाष्य 112,116

अग्निपुराण 27

अथर्ववेद 12,13,16,35,36

पैप्लादी 13,14

अभिधर्मकोष 46,56,57

अमरकोष 25

अर्थशास्त्र 30,34

अहिरबुध्न्य संहिता 14-16

आइन्सटीन 19,112-117,20,127

आत्मा 33

ईश्वर 33,38-41,111,113

ऋग्वेद 12,35

एलेक्जेंडर 132-34

ऐतरेय आरण्यक 20

ऐतरेय उपनिषद् 18

ऐतरेय ब्राह्मण 16

ऐयर, के.एन. 41

ओल्डेनबर्ग, प्रो. ए.एच. 50

क्लिफोर्ड, डब्लू.के. 128

कामसूत्र 31,32

किरणावली 68,69,72,77,79,84

कुमारस्वामी, ए.के. 23

कुमारिल 97,99-100

कूर्मपुराण 27,41

कृष्ण 28,32,33,96

कैवल्योपनिषद् 32

कौटिल्य 30,34

कौषीतकि उपनिषद् 18-19

कांट 78-79

गीता 32,37,39,96

घोष 92

चण्डी 31

चित्सुख 80,103

चित्सुखी 80

छान्दोग्य उपनिषद् 18

जीवात्मा 101

जिम्मर, डा. एच. 28

जैन दर्शन 60-61,64

जैमिनीय उपनिषद् 16

जैमिनीयसूत्र 95-96

तत्त्वमुक्ताकलाप 106,109-10,114

तत्त्ववैशारदी 93

तत्त्वार्थसूत्र 60,62-64

तात्पर्यवृत्ति 64,65

तैत्तिरीयारण्यक 19

तैत्तिरीयोपनिषद् 18

थडानी, प्रो 11

द्रव्यसंग्रहगाथा 60-61

दास, श्रीनिवास 111,115
दासगुप्ता, डॉ. एस.एन 15,26,104
द्वैताद्वैत मत 111
न्यायकुसुमांजलि 76
न्यायकंदली 71,78,82,84,86
न्यायमंजरी 70-71,83
न्यायलीलावती 76,78
न्यायवार्त्तिक 97
न्यायवैशेषिक दर्शन 66-87,93,115
न्यायसुधा 112,116
न्यायसूत्र 74
न्यूटन 117,122-24
नागार्जुन 47,107
नागेश 91
प्रत्यभिज्ञा 105
प्रस्थानरत्नाकर 116
पंचास्तिकाय 61,62,64-65
पदार्थमंडन 83
पिंगले पैटिसन 101
पैंगलोपनिषद् 19
ब्रह्मसूत्र 101,112
ब्रह्माण्डपुराण 37,42
बुद्ध 37,46,59
बर्गसाँ 26
बुद्धदेव 49
बौद्ध दर्शन 51,56,58,106,114
बौद्ध धर्म 41,50
बृहदारण्यक 17
बृहदारण्यकोपनिषद् 20
भट्टमीमांसक 70,97,98
भर्तृहरि 28
भागवततात्त्पर्य 112
भागवतपुराण 26,33,44
भाषापरिच्छेद 66,69,81-82
भिक्षु 89-91
मत्स्यपुराण 27,33,37
मध्वसिद्धान्तसार 112
मध्वाचार्य 111-12,115-16
मध्वातीर्थ,स्वामी 32
मनु 36,38
मनुस्मृति 33-35,37
महाभारत 27,28,32,35,37,39
माण्डूक्योपनिषद् 22,102
माध्यमिककारिका 107
मानमेयोदय 97-100
मार्कण्डेय पुराण 27
मिनकॉस्की 128
मीमांसा 95-100
मैक्समूलर 11
मैत्री उपनिषद् 19,21
यजुर्वेद 12
यतीन्द्रमतदीपिका 111,115
युक्तिदीपिका 91-93
योगभाष्य 50,76,88-92

योगवासिष्ठ 30-32,38,44
योगसूत्र 88
रघुनाथ शिरोमणि 39,83
राम 39
रामानुज 104,113
रामानुजभाष्य 104
रामायण 27-29,39
रुद्र 43
लंकावतारसूत्र 59
व्यास 36,38
वल्लभ 112,116
वसुबन्धु 46,53
वात्स्यायन 31
वायुपुराण 33,34,37,38,41,42
विद्याभूषण 74
विवेकानन्द, स्वामी 103
विषणुपुराण 26,42,44,84
विष्णुस्मृति 33
वेणीदत्त 83
वेदान्त 101-16
वेंकटाचार्य 106-09,114
वैभाषिकदर्शन 55,105
वैशेषिक उपस्कार 82
वैशेषिकसूत्र 69,86
श्लोकवार्तिक 97
श्वेताश्वतरोपनिषद् 20
शतपथ ब्राह्मण 14,16
शास्त्रदीपिका 98
शिवपुराण 41
शुद्धद्वैत 112
श्रीधर 84
श्रीहर्ष 72-73,78
शंकर, आचार्य 23,57-8,103,112-13
शांकरभाष्य 102,112-13
सर एडिंगटन 125-26,128-29
सरजेम्स जीन्स 123
सर्वदर्शनसंग्रह 81,85
सर्वपदार्थि 81
सर्वास्तिवाद 56
सिद्धांतचन्द्रोदय 84
सिद्धान्तमुक्तावली 68-9
सिद्धान्तशिरोमणि 83
सील, डॉ. 92
सुबालोपनिषद् 19,21
सौतरान्तिक 50,53,59
सांख्यप्रवचनभाष्य 91
सांख्ययोग 50-1,88-94
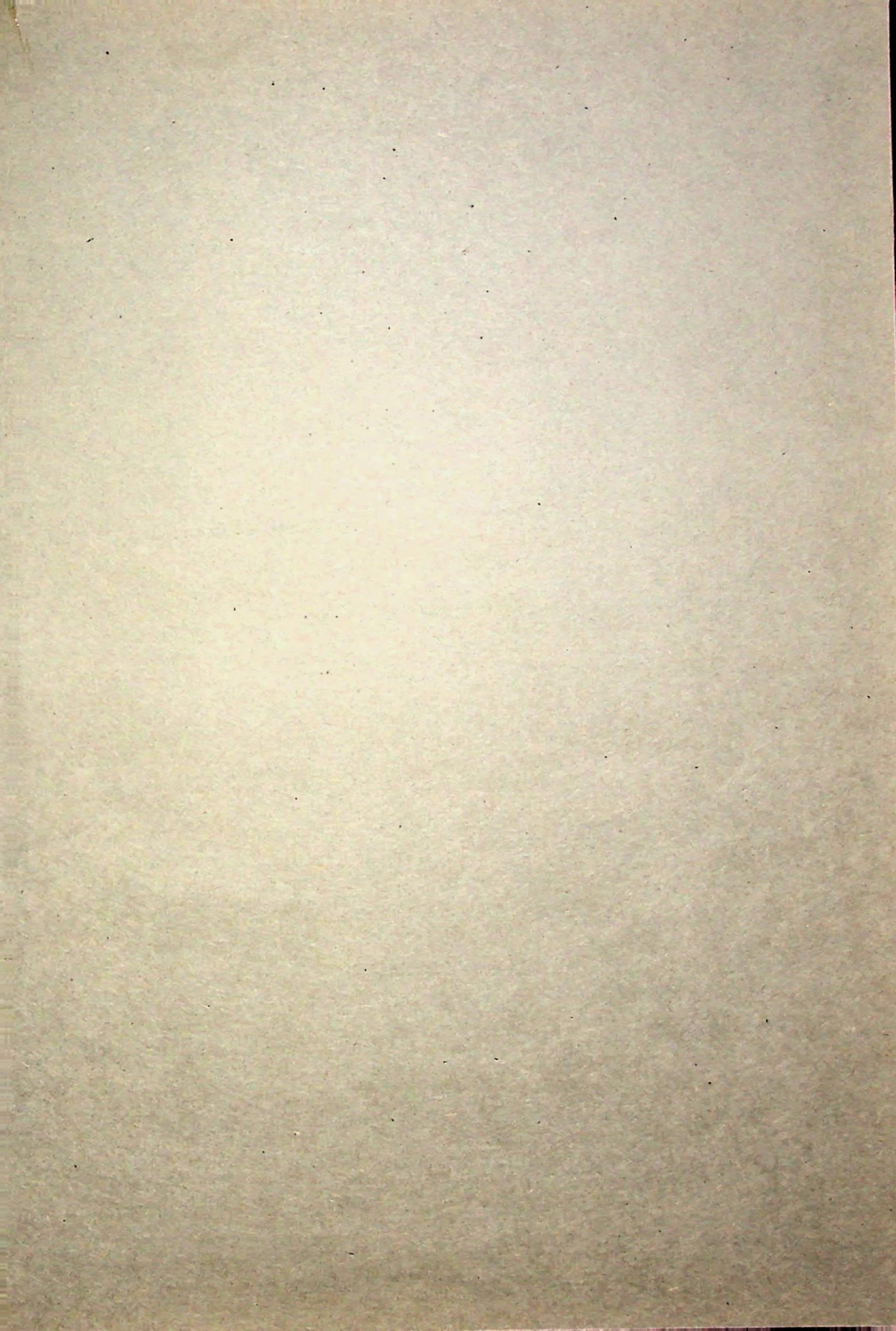
लेखक-परिचय

प्रो० डॉ० कुमार किशोर मंडल

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी.

पद : पूर्व शिक्षक, दर्शन विभाग, नालन्दा कालेज, मगध वि. वि; पूर्व शिक्षक, दर्शन विभाग, मगध वि.वि.; पूर्व प्रधानाचार्य, भागलपुर वि.वि.; पूर्व कुलपति, बिहार विश्वविद्यालय; पूर्व कुलपति मगध विश्वविद्यालय; पूर्व अध्यक्ष बिहार विश्वविद्यालय आयोग।

प्रकाशित पुस्तकें : (1) आगम तर्कशास्त्र, भारती प्रेस, पटना; (2) दिक् एवं काल का तुलनात्मक अध्ययन (अंग्रेजी), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, (3) भर्तृहरि के वाक्यपदीय में दिक् एवं काल की कल्पना, बिहार रिसर्च सोसायटी पत्रिका। (4) कॉनसेप्ट ऑफ टाइम एण्ड स्पेस इन इंग्लिश लिटेरेचर, रिसर्च लाइट, पटना।

सम्प्रति : मानद अध्यक्ष एवं निदेशक, एस.पी.एम. इन्स्टीट्यूट; आजीवन सदस्य, बिहार रिसर्च सोसायटी; उपाध्यक्ष, बिहार रिसर्च सोसाइटी; आजीवन सदस्य, बिहार विश्वविद्यालय सिनेट; आजीवन सदस्य, मगध विश्वविद्यालय।

सम्पर्क : श्रीकृष्ण नगर, पटना-1 (बिहार)